खण्ड

3

अनुवाद के आयाम तथा भारतीय बहुभाषिकता

इकाई 8
भारतीय बहुभाषिकता एवं अनुवाद 95

इकाई 9
राष्ट्र-निर्माण एवं अनुवाद के आयाम-1 114

इकाई 10
राष्ट्र-निर्माण एवं अनुवाद के आयाम-2 123

खण्ड-3 का परिचय

प्रस्तुत पाठ्यक्रम का खण्ड तीन **अनुवाद के आयाम तथा भारतीय बहुभाषिकता** है। प्रस्तुत खण्ड में कुल इकाइयों की संख्या तीन है। नीचे उनका संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है:

खण्ड 8 का शीर्षक है **भारतीय बहुभाषिकता एवं अनुवाद**। भारत जैसे बहुभाषिक देश में किन-किन प्रयोजनों के लिए अनुवाद की आवश्यकता पड़ती है, इसकी विधिवत चर्चा प्रस्तुत इकाई में की गई है। बहुभाषिकता किसी भी समाज के लिए हितकर है या हानिकर, इसे लेकर विभिन्न मत रहे हैं। भारतीय संदर्भ में बहुभाषिकता के विभिन्न आयामों के माध्यम से इन सभी बिन्दुओं पर यहां विचार किया गया है।

इकाई 9 एवं इकाई 10 का शीर्षक **राष्ट्र-निर्माण एवं अनुवाद के आयाम-1, 2** हैं। प्रस्तुत इकाई में राष्ट्र निर्माण की पूरी प्रक्रिया को विस्तार से समझाया गया है। किसी भी राष्ट्र के निर्माण में वहां का साहित्य क्या भूमिका अदा करता है इसे समझाने के लिए यूरोप तथा भारत के राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया को आधार बनाया गया है। भारत के राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया यूरोपीय देशों के राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया से किस प्रकार भिन्न है तथा दोनों ही स्थितियों में अनुवाद की क्या भूमिका है, इसे समझने के लिए प्रस्तुत दोनों ही इकाइयां बेहद महत्वपूर्ण हैं।

इकाई 8 भारतीय बहुभाषिकता एवं अनुवाद

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 भाषायी समाज और बहुभाषिकता

8.3 द्विभाषिकता और बहुभाषिकता : अर्थ और आयाम

- 8.3.1 व्यक्तिगत और सामाजिक द्विभाषिकता
- 8.3.2 समानाधिकृत और सामासिक द्विभाषिकता
- 8.3.3 योगात्मक और ऋणात्मक द्विभाषिकता
- 8.3.4 अंतः और बाह्य द्विभाषिकता

8.4 बहुभाषिकता सम्बन्धी तर्क-वितर्क

- 8.4.1 बहुभाषिकता और बौद्धिक विकास
- 8.4.2 बहुभाषिकता और सर्जनात्मकता
- 8.4.3 बहुभाषिकता और संप्रेषणात्मक संवेदनशीलता
- 8.4.4 बहुभाषिकता और राष्ट्रीय विकास

8.5 भारतीय बहुभाषिकता का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

- 8.5.1 साहित्य-रचना और लोक-व्यवहार में बहुभाषिकता
- 8.5.2 विधायिका और कार्यपालिका के क्षेत्र में द्विभाषिकता
- 8.5.3 न्यायपालिका के क्षेत्र में द्विभाषिकता
- 8.5.4 शिक्षा के क्षेत्र में बहुभाषिकता
- 8.5.5 जनसंचार माध्यम और द्विभाषिकता

8.6 बहुभाषिकता की स्थिति और अनुवाद की अपरिहार्यता

8.7 सारांश

8.8 अभ्यास के लिए प्रश्न

8.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

8.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आपः

- द्विभाषिकता और बहुभाषिकता को जान सकेंगे;
- द्विभाषिकता के आयामों को समझ सकेंगे;
- बहुभाषिकता का विभिन्न संदर्भों में महत्व जान सकेंगे;
- भारत की बहुभाषिकता को समझ सकेंगे तथा पश्चिमी देशों से इसका अंतर जान सकेंगे; और
- बहुभाषिक समाज में अनुवाद की आवश्यकता और महत्व को समझ सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

भारतीय भाषाएँ और अनुवाद से सम्बन्धित इस पाठ्यक्रम में भारत के प्रमुख भाषा-परिवारों के साथ-साथ आधुनिक भारतीय भाषाओं के बीच अनुवाद के विषय में आप अध्ययन कर चुके हैं। भारत के भाषायी परिदृश्य को जानने के बाद आपको यह स्पष्ट हो गया होगा कि भारत एक बहुभाषा-भाषी देश है, यहाँ बहुभाषिकता की स्थिति है। किंतु एम.ए. के विद्यार्थी के लिए इतनी ही जानकारी पर्याप्त नहीं है। उसे बहुभाषिकता और उसके आयामों का स्पष्ट बोध होने के साथ-साथ बहुभाषिक समाज में अनुवाद की भूमिका की स्पष्ट जानकारी होनी चाहिए।

मातृभाषा के अलावा किसी अन्य (दूसरी) भाषा के बारे में थोड़ा-बहुत समझ होने के आधार पर लोग स्वयं को द्विभाषी कहलाना पसंद करते हैं। जबकि वास्तविकता यह होती है कि वे अन्य (दूसरी) भाषा को केवल थोड़ा-बहुत समझ ही पाते हैं, उसे बोलने अथवा पढ़ने-लिखने में सक्षम नहीं होते हैं। वे वास्तव में सिर्फ अपनी मातृभाषा ही जानते हैं। वहीं, दूसरी ओर, ऐसे भी लोग होते हैं जो अपनी मातृभाषा के साथ-साथ अन्य (दूसरी) भाषा के भी अच्छे जानकार होते हैं, उन्हें वह अन्य भाषा अच्छी तरह से आती है। इस प्रकार के लोगों को सही अर्थों में द्विभाषी कहा जाता है। इसीलिए द्विभाषिकता को भाषा-व्यवहार के साथ-साथ भाषा सामर्थ्य के संदर्भ में भी देखने की आवश्यकता होती है। इसके साथ-साथ, मातृभाषा के अलावा जानकार भाषाओं की संख्या के आधार पर 'त्रिभाषिकता', 'चतुर्भाषिकता' अथवा 'बहुभाषिकता' शब्द-प्रयोग पर भी विचार करने की जरूरत है। इसलिए द्विभाषिकता अथवा बहुभाषिकता की धारणा पर गंभीरता से विचार करने की जरूरत है। इस इकाई में द्विभाषिकता और बहुभाषिकता की इसी अवधारणा को स्पष्ट करते हुए विशेष तौर पर अनुवाद के संदर्भ में भारतीय बहुभाषिकता पर विचार किया जा रहा है।

8.2 भाषायी समाज और बहुभाषिकता

मनुष्य एक भाषा को मातृभाषा के रूप में प्रयोग करते हैं क्योंकि वे उस भाषा को शैशवावस्था से ही सीखना शुरू कर देते हैं। बच्चे अपनी प्रकृति-प्रदत्त क्षमता के कारण अपने माता-पिता और अपने आसपास के अन्य मनुष्यों की भाषा को सहज ही ग्रहण कर लेते हैं और बोलना सीखते हैं। यह भाषा-व्यवहार मौखिक स्तर पर होता है। बच्चे को यह भाषायी-परिवेश सर्वप्रथम माँ से प्राप्त होता है। इसलिए इस तरह से सीखी अथवा जानी गई भाषा को मातृभाषा कहते हैं। किंतु विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के आज के युग में एकभाषिक मनुष्य का जीवन-व्यवहार में भली प्रकार से कार्य कर पाना संभव नहीं होता है। अपने भाषायी-समाज में संप्रेषण के अलावा, उसे अपनी जरूरत के अनुसार अन्य भाषा-भाषायी समाजों के साथ सम्पर्क करना ही पड़ता है। वे भाषायी-समाज संख्या में एक से अधिक हो जाते हैं। इसलिए मनुष्य को एक भाषा (मातृभाषा) के अलावा, अन्य भाषायों को व्यवहार में लाना पड़ जाता है। अन्य भाषाओं को व्यवहार में लाना किसी भी भाषायी समाज को बहुभाषी बना देता है।

'भाषायी-समाज' की अवधारणा को भाषा की प्रकृति के संदर्भ में देखना होगा। अपनी भाषिक क्षमता के कारण मनुष्य, संसार के अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ है, शक्तिवान है। भाषाएँ किसी समाज-विशेष के सभी व्यक्तियों की इच्छाओं, भावनाओं, चिंतन, मूल्यों और जीवन-दृष्टि के सम्प्रेषण का आधार हैं। इससे समाज-विशेष के सभी व्यक्ति एक-दूसरे से जुड़ते हैं, और एक इकाई बनते हैं। समाज-विशेष की यह इकाई ही 'भाषायी-समाज' कहलाती है।

समाजभाषाविज्ञान की दृष्टि से 'भाषायी-समाज' की अवधारणा में वे भाषा-प्रयोक्ता शामिल हैं जो आपसी सम्प्रेषण में समान भाषिक प्रतीक-व्यवस्था का प्रयोग करते हैं। यह समान भाषिक प्रतीक व्यवस्था एक-दूसरे को भली प्रकार से समझ में आने वाली और परस्पर स्वीकार्य होती है। संप्रेषण-व्यवहार में समान प्रतीक व्यवस्था के प्रयोग को दर्शाने वाली 'भाषायी समाज' की यह अवधारणा, समाज-विशेष में एक भाषा के प्रयोग की द्योतक होती है। समाजभाषावैज्ञानिक दृष्टि से वह समाज-विशेष एकभाषी समाज हो जाता है। यह एक भाषा उस समाज की मातृभाषा होती है और उनकी विशेष पहचान की सूचक भी। यह भाषायी समानधर्मिता किसी भी मनुष्य की अन्य भाषायी समाज के मनुष्यों से अलग पहचान का आधार भी बनती है। ध्यान देने की बात यह भी है कि भाषायी समाज की इस अवधारणा को केवल भौगोलिक इकाई के संदर्भ में ही लागू नहीं किया जा सकता। उदाहरण के

लिए, हिन्दी भाषा के संदर्भ में देखें तो यह कहा जा सकता है कि हिन्दी न केवल भारत में ही बल्कि मॉरिशस, ट्रिनिडाड, गुआना, सूरीनाम आदि विश्व के अनेक देशों में भी व्यवहृत होती है। इसलिए समाजभाषावैज्ञानिक दृष्टि से विश्व के सभी हिन्दी भाषा-भाषियों को 'हिन्दी भाषायी समाज' कहा जाएगा जो भौगोलिक रूप से भारत से दूर (अर्थात विदेश में) होने के बावजूद अपने समाज में हिन्दी का प्रयोग करके अपनी पहचान बनाए हुए है। इसी प्रकार, अंग्रेजी भाषा का प्रयोग विश्व के काफी अधिक क्षेत्रों में होता है। वे सभी क्षेत्र इस भाषा को अंग्रेजी भाषायी समाज की पहचान दिलाते हैं।

समाजभाषावैज्ञानिक दृष्टि के अनुसार ही जब किसी भाषायी समाज में मातृभाषा के साथ-साथ किसी अन्य भाषा को व्यवहार में लाया जाने लगता है तो वह भाषायी समाज बहुभाषी समाज माना जाता है। इस तरह, बहुभाषिकता को किसी भी भाषायी समाज के परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है। ध्यान देने की बात यह भी है कि यह भाषायी समाज में व्यवहृत होने वाली वह अन्य भाषा कोई एक भाषा भी हो सकती है और एक से अधिक भाषाएँ भी।

8.3 द्विभाषिकता और बहुभाषिकता : अर्थ और आयाम

मनुष्य संप्रेषण-व्यवहार के लिए भाषा को प्रयोग में लेते हैं। किंतु किसी एक भाषा-समाज में जब यह संप्रेषण-व्यवहार एक से अधिक भाषाओं में किया जाता है तो वहाँ बहुभाषिकता की स्थिति बन जाती है। इस दृष्टि से बहुभाषिकता का अर्थ है - किसी भी भाषा-समाज में एक भाषा से इतर किसी अन्य भाषा का प्रयोग भी। हालाँकि बहुभाषिकता के इस अर्थ में आया 'किसी अन्य भाषा' पद दो भाषाओं के प्रयोग के भाव को व्यक्त करता है। इस आधार पर 'बहुभाषिकता' शब्द के स्थान पर 'द्विभाषिकता' शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिए। इसी प्रकार संप्रेषण-व्यवहार के लिए यदि दो से अधिक भाषाओं का प्रयोग किया जाए तो वह 'त्रिभाषिकता', 'चतुर्भाषिकता' जैसी शब्दावली को प्रयुक्त करने की स्थिति बना देती है। लेकिन इस प्रकार की शब्दावली का विकास हास्यास्पद स्थिति बना देता है क्योंकि संप्रेषण-व्यवहार के लिए भाषा-प्रयोग 'दो' अथवा उससे अधिक 'कई' तक का हो सकता है। यही कारण है कि आजकल 'द्विभाषिकता', 'त्रिभाषिकता' शब्द चलन में नहीं हैं और इनके स्थान पर 'बहुभाषिकता' शब्द को ही आधार शब्द के रूप में स्वीकार किया जा चुका है। और इसी 'द्विभाषिकता' पद में ही दो भाषा-प्रयोग की द्विभाषिकता अथवा इससे अधिक भाषाओं के प्रयोग की स्थिति का भाव शामिल है। **प्रस्तुत इकाई में 'द्विभाषिकता' एवं 'बहुभाषिकता' शब्द को एक ही अर्थ-संदर्भ में (अर्थात् पर्याय के रूप में) प्रयुक्त किया जा रहा है।**

बहुभाषिकता संप्रेषण-व्यवहार के लिए दो अथवा दो से अधिक भाषाओं के प्रयोग की क्षमता से सम्बन्धित है। इनमें से पहली भाषा व्यक्ति की मातृभाषा होती है और दूसरी अन्य भाषा। ब्लूमफील्ड ने द्विभाषिकता को दो अथवा दो से ज्यादा भाषाओं के ज्ञान को मातृभाषा-समान दक्षता से जोड़कर देखा है – 'The native like control of two or more languages' (Language 1933 : 56). द्विभाषिकता के संदर्भ में ब्लूमफील्ड के ये विचार बहुभाषिकता को वास्तव में एक व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान कर देते हैं क्योंकि वे अन्य भाषाओं को मातृभाषा के समान दक्षता से जोड़ते हैं। जबकि वास्तविकता यह है कि व्यक्ति का दो अथवा अधिक भाषाओं पर मातृभाषा-समान दक्ष होना मुश्किल है, सभी भाषाओं का ज्ञान समान रूप से संभव नहीं।

इसके विपरीत, यू. वाइनराईख (U. Weinreich) ने द्विभाषिकता को दो भाषाओं के वैकल्पिक प्रयोग से जोडकर देखा है। हालाँकि द्विभाषी को मातृभाषा के अलावा, अन्य भाषा भी अच्छी तरह से आती है लेकिन यह स्वयं में आदर्श स्थिति है क्योंकि अच्छी तरह से दो अथवा दो से अधिक भाषाओं का संतुलित रूप से आना मुश्किल है। इसलिए वाइनराईख ने द्विभाषिकता को विकल्प के रूप में भाषा-प्रयोग के अभ्यास से जोड़कर देखा है। वाइनराईख के अनुसार विकल्प के रूप में एक भाषा के स्थान पर दूसरी भाषा के प्रयोग करने के अभ्यास की स्थिति द्विभाषिकता कहलाती है और प्रयोग करने वाले द्विभाषी। (1953:1) स्पष्ट है कि वाइनराईख द्वारा द्विभाषिकता के सम्बन्ध में दी गई इस परिभाषा के अनुसार, दूसरी भाषा की थोड़ी-सी जानकारी भी व्यक्ति को द्विभाषिक या बहुभाषिक बना सकती है। इस प्रकार की द्विभाषिकता (बहुभाषिकता) प्रारंभिक द्विभाषिकता (बहुभाषिकता) (incipient bilingualisam) कहलाती है।

नोम चॉमस्की ने 1966 में प्रकाशित अपने ग्रंथ 'टॉपिक्स इन दि थ्योरी ऑफ जेनेरेटिव ग्रामर' में आदर्श मातृभाषी के अव्यक्त अंतर्भूत भाषाज्ञान को 'क्षमता' तथा उसी के व्यक्त रूप को 'निष्पादन' कहा है। हैंस हारमैन ने 1971 में प्रकाशित अपने ग्रंथ 'साइकोलिंग्विस्टिक्स' में लिखा है - 'द्विभाषी व्यक्ति वह है जो दो भाषाओं में उतनी ही दक्षता और सहजता से अपने को अभिव्यक्त कर सकता है जितनी दक्षता और सरलता से मातृभाषी अपने को अभिव्यक्त करता है। द्वितीय भाषा सीखने वाला आदर्श रूप से द्विभाषी बन जाता है।'

लेकिन इस स्थिति को कल्पित ही कहा जाएगा क्योंकि आम तौर पर कोई भी व्यक्ति दो भाषाओं पर आदर्श रूप से अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए इस संदर्भ में हॉगेन के ये विचार उपयुक्त प्रतीत होते हैं कि 'अतः मुख्य प्रश्न 'दो' संख्या का नहीं, क्योंकि एक या दोनों क्षमताएँ पूर्ण मातृभाषा क्षमता से कम हो सकती हैं और होती हैं। द्विभाषी व्यक्ति में केवल एक तथा आधी क्षमता हो सकती है, तब भी यह एक से ज्यादा है और हमें उसे द्विभाषी मानना पड़ेगा। हॉगेन ने द्विभाषिकता के लिए 'प्रयोग' (use) को आवश्यक नहीं माना है। हॉगेन के अनुसार, 'दो भाषाओं का ज्ञान रखने वाला ही द्विभाषी है। चाहे वह व्यक्ति केवल एक भाषा का प्रयोग करता हो और दूसरी भाषा की केवल जानकारी ही रखता हो।'

कमोबेश इसी प्रकार के विचार टेलर के भी कहे जा सकते हैं। टेलर ने द्विभाषिकता को सीमित अर्थ-संदर्भ में देखा है। यह सीमित संदर्भ दूसरी भाषा की संक्षिप्त जानकारी से जुड़ा हुआ है। टेलर ने 1976 में लिखे अपने ग्रंथ 'इंट्रोडक्शन टू साइको-लिंग्विस्टिक्स' में द्विभाषिकता के इसी सीमित संदर्भ को ध्यान में रखते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि दूसरी भाषा की थोड़ी-सी जानकारी भी व्यक्ति को द्विभाषिक अथवा बहुभाषिक बना सकती है। टेलर के अनुसार, 'द्विभाषिक व्यक्ति वह है जो उन दो भाषाओं को बोल सकता है जो उच्चारण, शब्दावली और वाक्य-विन्यास की दृष्टि से एक-दूसरे से भिन्न होती हैं। ('A bilingual is a person who can speak two languages that differ in speech sounds, vocabulary, and syntax'.) जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि इस प्रकार की द्विभाषिकता को प्रारंभिक द्विभाषिकता (incipient bilingualisam) कहा जाता है।

विभिन्न विद्वानों के विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्विभाषिकता का सम्बन्ध दो भाषाओं के ज्ञान एवं प्रयोग की कुशलता से है। लेकिन ध्यान रखने की बात यह भी है कि दो भाषाओं में मातृभाषा के समान पूरी तरह से दक्षता संभव नहीं है। द्विभाषिक व्यक्ति की भाषायी क्षमता, विविध संदर्भों के अनुसार अलग-अलग होती है। इसलिए द्विभाषिकता के अनेक प्रकार एवं आयाम हैं। आइए इन प्रकारों-आयामों के बारे में थोड़ा-सा जानें।

8.3.1 व्यक्तिगत और सामाजिक द्विभाषिकता

द्विभाषिकता का एक महत्वपूर्ण पक्ष व्यक्ति और समाज से जुड़ा हुआ है। द्विभाषिकता के इस पक्ष को एक उदाहरण की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है। जैसे, भारत में ऐसे भी लोग हैं जो फ्रांसीसी, जापानी, इंडोनेशियाई, चीनी आदि विश्व की अंग्रेजी-इतर अन्य भाषाएँ भी जानते हैं। लेकिन शायद ही कोई ऐसा परिवार मिलेगा, जिसके सभी सदस्य फ्रांसीसी, जापानी, इंडोनेशियाई अथवा चीनी भाषा बोलते हों, उन्हें निरंतर जीवन-व्यवहार में लाते हों। लेकिन ऐसे अनेक परिवार मिलेंगे जिनके सभी सदस्य हिन्दी अथवा अंग्रेजी भाषा को व्यवहार में लाते हैं, बोलते हैं। यही कारण है कि व्यक्तिगत द्विभाषिकता को सामाजिक द्विभाषिकता से अलग माना गया है।

व्यक्तिगत बहुभाषिकता, किसी भी भाषा-भाषी समाज की विशेषता है। इस प्रकार के समाज में व्यक्ति अन्य भाषा को अपनी व्यक्तिगत जरूरतों की वजह से स्वीकार करते हैं। व्यक्ति पर दूसरी भाषा सीखने का कोई सामाजिक दबाव नहीं होता है और न ही समाज में ऐसी भाषिक स्थिति होती है कि वह आपसी सम्प्रेषण के लिए दूसरी भाषा सीखे। उदाहरण के लिए, हिन्दी मातृभाषी कुछ व्यक्तियों द्वारा जर्मन, जापानी, फ्रांसीसी आदि सीख जाने पर समाज में जो बहुभाषिकता की स्थिति बनेगी वह 'व्यक्तिगत द्विभाषिकता' होगी।

दूसरी ओर, जब व्यक्ति सामाजिक दबाव के परिणामस्वरूप मातृभाषा-इतर भाषा को सीखते हैं और उसे अपनाते हैं तो वह वास्तव में 'सामाजिक द्विभाषिकता' की स्थिति है। इसमें व्यक्ति समाज की व्यापक सम्प्रेषण व्यवस्था

अथवा सामाजिक संदर्भ में इसके महत्व की वजह से दूसरी भाषा को सीखते हैं। उदाहरण के लिए, हिन्दी मातृभाषी द्वारा अंग्रेज़ी भाषा सीखना।

8.3.2 समानाधिकृत और सामासिक द्विभाषिकता

पहले आपको बताया जा चुका है कि वाइनराइख ने द्विभाषिकता को दो भाषाओं के वैचारिक प्रयोग से जोड़कर देखा है। इसी प्रकार, उन्होंने सभी द्विभाषिकों को दो वर्गों में बाँटा है। ये दो वर्ग हैं -- (क) समानाधिकृत द्विभाषी (co-ordinate bilingual); एवं (ख) सामासिक द्विभाषी (compound bilingual)।

समानाधिकृत द्विभाषी व्यक्ति के मस्तिष्क में दोनों भाषाओं की शब्दार्थ व्यवस्था (semantic system) अलग-अलग होती है और वे उन दोनों भाषाओं को स्वतंत्र रूप से प्रयोग में लाते हैं। उदाहरण के लिए फ्रांसीसी भाषा-ज्ञानी मलयालम-भाषी के लिए मलयालम भाषा की शब्दार्थ व्यवस्था को व्यवहार में लाते हैं और फ्रांसीसी भाषी के लिए फ्रांसीसी शब्दार्थ व्यवस्था को प्रयुक्त करते हैं। स्वाभाविक है कि इस प्रकार के द्विभाषिक व्यक्ति दोनों भाषाओं की सत्ता को दो अलग-अलग इकाइयों के रूप में स्वीकार करते हुए चलते हैं। वैसे, ध्यान देने की बात यह है कि समानाधिकृत द्विभाषी व्यक्ति के व्यवहार में आने वाली ये दोनों ही भाषाएँ दो भिन्न-भिन्न प्रकार के समाजों-संस्कृतियों एवं जीवन-दृष्टि की अभिव्यक्ति का साधन बनती हैं।

सामासिक द्विभाषी व्यक्ति के मस्तिष्क में दोनों भाषाओं की शब्दार्थ व्यवस्था एक ही होती है और वे उसी शब्दार्थ व्यवस्था को अपने द्वारा व्यवहृत दोनों भाषाओं में प्रयुक्त करते हैं। उदाहरण के लिए, यदि कोई कन्नड़-भाषी व्यक्ति एक ही शब्दार्थ व्यवस्था में हिन्दी एवं कन्नड़ भाषाओं को अभिव्यक्त करता है तो वह सामासिक द्विभाषी है। इस तरह के द्विभाषिक व्यक्ति दो भाषाओं की सत्ता को एक ही संस्कृति की अभिव्यक्ति के दो विकल्प-माध्यमों के रूप में स्वीकार करते हैं। भारत में बड़ी संख्या में ऐसे सामासिक द्विभाषिक लोग हैं जो अपनी-अपनी भाषा (मातृभाषा) के साथ-साथ अंग्रेजी भाषा को भी उतनी ही अच्छी तरह से जानते हैं। सामासिक द्विभाषिकता की इस स्थिति में दोनों भाषाएँ एक-दूसरे के सम्पर्क में आती हैं। वे आपस में प्रभावित होती हैं और एक-दूसरे पर अपना प्रभाव भी छोड़ती हैं।

8.3.3 योगात्मक और ऋणात्मक द्विभाषिकता

द्विभाषिकता वास्तव में दो अथवा दो से अधिक भाषाओं के वैकल्पिक प्रयोग की स्थिति को दर्शाती है। संप्रेषण-व्यवहार अथवा सम्पर्क के इस आयाम के जरिए किसी भी भाषा-भाषी से यह अपेक्षित होता है कि वह एक से अधिक भाषा के प्रयोग की न्यूनाधिक मात्रा में दक्षता प्राप्त करके उसे व्यवहार में लाए। लेकिन यह भाषा-व्यवहार योगात्मक भी हो सकता है और ऋणात्मक भी। इसलिए बहुभाषिकता को योगात्मक (additive) एवं ऋणात्मक (substractive) संदर्भ में भी देखा जाता है।

योगात्मक द्विभाषिकता की स्थिति मातृभाषा को सुरक्षित रखते हुए एक या अधिक भाषा सीखने और उनके प्रयोग की दक्षता प्राप्त करने से सम्बन्धित है। जब व्यक्ति अपनी मातृभाषा को सुरक्षित रखते हुए एक या अधिक भाषा सीखकर उनके प्रयोग की दक्षता प्राप्त कर लेते हैं वे 'योगात्मक बहुभाषी' कहे जाते हैं। इस संदर्भ में यह उल्लेख करना भी अनुचित न होगा कि योगात्मक बहुभाषी को दूसरी भाषा सीखने के सारे सफल मिलते हैं क्योंकि वे मातृभाषा से जुड़े रहकर एक से अधिक भाषाएँ सीखते हैं और उनका प्रयोग करने की दक्षता अर्जित करते हैं।

ऋणात्मक द्विभाषिकता की स्थिति का सम्बन्ध एक या अधिक भाषा सीखने और उनके प्रयोग की दक्षता प्राप्त करने से तो है, लेकिन इसमें स्थिति थोड़ी भिन्न हो जाती है। भिन्नता का आधार यह रहता है कि व्यक्ति दूसरी भाषा सीखने के बाद उसके प्रभाववश मातृभाषा भूलने लग जाते हैं। इस स्थिति में व्यक्ति के लिए मातृभाषा की तुलना में अन्य (दूसरी) भाषा अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। इस प्रकार के द्विभाषी को 'ऋणात्मक बहुभाषी' कहा जाता है। धनात्मक बहुभाषिकता के विपरीत, ऋणात्मक द्विभाषी या बहुभाषी को नकारात्मक फल मिलते हैं क्योंकि वे मातृभाषा की तुलना में दूसरी भाषा को अधिक महत्व देते हैं और उस भाषा के प्रभाव के कारण अपनी मातृभाषा को भूलने लगते हैं।

8.3.4 अंतः और बाह्य द्विभाषिकता

द्विभाषिकता की स्थिति को भाषायी-समाज की बाह्य और आंतरिक द्विभाषिकता के संदर्भ में देखा जा सकता है।

अंतःद्विभाषिकताः अंतःद्विभाषिकता एक ही मानक भाषा और उसकी विभिन्न बोलियों अथवा शैलियों से सम्बन्धित है। स्वाभाविक है कि इसी आधार पर अंतःद्विभाषिकता की भी दो स्थितियाँ हैं - (क) द्विबोली की स्थिति (जैसे हिन्दी+ब्रज, हिन्दी+अवधी, अवधी+ब्रज आदि); और एक ही भाषा की दो शैलियों के कारण 'समष्टि' (डिग्लोसिया) द्विभाषा' की स्थिति। द्विबोली एक ही मानक भाषा की दो बोलियों से भी सम्बन्धित हो सकती है (जैसे अवधी+ब्रज, मैथिली+मगही, अवधी+छत्तीसगढ़ी, बुंदेली+कन्नौजी आदि) और एक मानक भाषा तथा दूसरी बोली (जैसे हिन्दी+ब्रज, हिन्दी+अवधी, हिन्दी+बघेली, हिन्दी+हरियाणवी, हिन्दी+मेवाती, हिन्दी+मारवाड़ी आदि) से भी। समष्टि द्विभाषा के अंतर्गत एक ही भाषा के दो कोडों अथवा शैलियों का संयोग होता है। इनमें से एक उच्च शैली तथा दूसरी निम्न शैली का रूप लिए होती है जिन्हें क्रमशः 'उच्च भाषा' और 'निम्न भाषा' कहा जाता है। उच्च शैली का प्रयोग 'औपचारिक' स्थितियों में किया जाता है और निम्न भाषा शैली का प्रयोग 'अनौपचारिक' स्थितियों में। उच्च शैली वाली उच्च भाषा को प्रयोग करने वाले व्यक्ति सुसंस्कृत माने जाते हैं। इस प्रकार की भाषा को प्रतिष्ठा एवं सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है, किंतु इस प्रकार की भाषा में आत्मीयता का अभाव होता है। वहीं, प्रतिष्ठा एवं सम्मान कम होने पर भी अनौपचारिक स्थिति में प्रयुक्त शैली वाली निम्न भाषा में अधिक आत्मीयता होती है।

भारतीय भाषाओं में उच्च और निम्न शैली के भाषा-रूपों के उदाहरण मिलते हैं। जैसे, बांग्ला भाषा के दो शैली रूप मिलते हैं - 'साधुभाषा' और 'चलित भाषा'। इनमें से प्रथम अर्थात साधु भाषा का प्रयोग औपचारिक स्थितियों में किया जाता है और चलित भाषा का प्रयोग अनौपचारिक स्थितियों में। इसी प्रकार, तमिल की 'पीरू' (शुद्ध तमिल) और 'पीचू' (बोलचाल की तमिल), तेलुगु की 'ग्रंथिका भाषा' और 'व्यावहारिक भाषा' समष्टि द्विभाषा के उदाहरण हैं। इसी प्रकार, हिन्दी भाषा की भी तीन शैलियाँ हैं – (क) संस्कृतनिष्ठ उच्च हिन्दी (खड़ी बोली), (ख) आधारभूत हिन्दी अथवा हिंदुस्तानी; और (ग) अरबी-फारसीनिष्ठ उर्दू। किंतु हिन्दी में समष्टि द्विभाषा की स्थिति स्थिर नहीं है। डॉ. सूरजभान सिंह के अनुसार, 'हिन्दी की 'शुद्ध हिन्दी' तथा 'हिंदुस्तानी' (हिन्दी-उर्दू) में प्रयोग-क्षेत्रों के परिपूरक वितरण तथा सामूहिक प्रयोग का अभाव है, क्योंकि 'शुद्ध हिन्दी' का सामूहिक प्रयोग मौखिक भाषा के रूप में सामाजिक जीवन के विभिन्न व्यवहार क्षेत्रों में नहीं होता। लिखित भाषा तथा प्रयोग-क्षेत्र-विशिष्ट तकनीकी प्रयुक्तियों (रजिस्टरों) को इससे अलग समझना चाहिए क्योंकि वे 'उच्च' और 'निम्न' की परिभाषा से मुक्त हैं। इसके अलावा सामान्य हिन्दी-भाषी 'शुद्ध हिन्दी' से परिचित नहीं, क्योंकि हिंदुस्तानी या हिन्दी-उर्दू के ज्ञान से वह सामाजिक जीवन के हर क्षेत्र में काम चला लेता है। परंतु समष्टि द्विभाषा की स्थिति में प्रयोग-क्षेत्रों के परिपूरक वितरण में होने के कारण उसे भाषा के दोनों कोडों या शैलियों से पर्याप्त रूप से परिचित होना आवश्यक है। यद्यपि हिन्दी में दोनों रूपों को सामाजिक मान्यता प्राप्त है परंतु प्रयोग-क्षेत्रों के वितरण की बाध्यता की बजाय भाषेतर कारणों से किसी एक कोड या रूप को तरजीह देने का आग्रह है।' (हिन्दी भाषा की सामाजिक-संरचना, पृ. 17)

बाह्य द्विभाषिकता : बाह्य द्विभाषिकता का सम्बन्ध भाषाओं के मानक रूप से है। इस द्विभाषिकता के कारण दो प्रकार की स्थितियाँ बनती हैं - (क) दो सजातीय अथवा एकदेशीय भाषाओं की द्विभाषिकता (उदाहरण के लिए, हिन्दी+बांग्ला, हिन्दी+मलयालम, तमिल+हिन्दी, कन्नड़+हिन्दी आदि); और (ख) सामाजिक स्वदेशी एवं विदेशी भाषा के संयोग की स्थिति।

हिन्दी+बांग्ला, हिन्दी+मलयालम, तमिल+हिन्दी, कन्नड़+हिन्दी आदि दो सजातीय अथवा एकदेशीय भाषाओं की द्विभाषिकता का उदाहरण हैं।

अगर हम सामाजिक स्वदेशी एवं विदेशी भाषा के संयोग की स्थिति पर विचार करें तो पाते हैं कि यह संयोग सामाजिक प्रकार्य की दृष्टि से स्वदेशी भाषा के समांतर प्रयुक्त विदेशी भाषा की वजह से होता है। उदाहरण के लिए, किसी भी भारतीय भाषा के साथ-साथ सामान्य सामाजिक व्यापार क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाली विदेशी भाषा

अंग्रेज़ी। हिन्दी और अंग्रेजी, तमिल और अंग्रेजी, बांग्ला और अंग्रेजी, पंजाबी और अंग्रेजी, कन्नड और अंग्रेजी आदि इसी स्थिति को दर्शाते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि द्विभाषिकता की इस स्थिति के मूल में सामाजिक व्यवहार में उपयोगिता की दृष्टि काम करती है। भाषायी समाज इस प्रकार की द्विभाषिकता में द्वितीय भाषा को सामूहिक स्तर पर सीखता और प्रयुक्त करता है। यह स्थिति 'सामाजिक बहुभाषिकता' को व्यक्त करती है।

द्विभाषिकता की इसी दूसरी स्थिति का सम्बन्ध उस विदेशी भाषा के प्रयोग से भी है जिसे आम तौर पर सामान्य सामाजिक व्यवहार क्षेत्रों में प्रयुक्त नहीं किया जाता परंतु किसी विशेष तदर्थ प्रयोजन के लिए व्यवहार में लाया जाता है। हिन्दी+स्पेनिश, हिन्दी+मंगोलियाई, हिन्दी+कोरियाई, हिन्दी+जर्मन, हिन्दी+फ्रांसीसी आदि द्विभाषिकता की स्थिति वास्तव में विशेष प्रयोजन से सम्बन्धित है। बहुभाषिकता की इस स्थिति को 'व्यक्तिगत बहुभाषिकता' में शामिल किया जा सकता है क्योंकि इस स्थिति में इतर भाषा को व्यक्तिगत स्तर पर सीखा और प्रयुक्त किया जाता है।

8.4 बहुभाषिकता सम्बन्धी तर्क-वितर्क

बहुभाषिकता के सम्बन्ध में विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं। इसका मूलभूत कारण यह है कि पश्चिम के अधिकांश देश एकभाषिक रहे हैं या फिर अगर वहाँ बहुभाषिकता की स्थिति है भी तो उसके मूल में यह कारण रहा है कि वहाँ लोग अन्य जगहों से प्रवास करके पहुँचे हैं। मुख्य रूप से ऐसे ही एकभाषिक पश्चिमी देशों के भाषाविदों ने इस भ्रामक धारणा को प्रश्रय दिया है कि किसी भी देश की स्वाभाविक स्थिति एक भाषा-भाषी होने की है। उनकी यह भी धारणा है कि अधिक भाषाएँ सीखना हानिकारक है। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के लॉरि जैसे विद्वानों ने तो इसे बच्चों के बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास के लिए नुकसानदेह माना है। उन्होंने 1890 में कहा था – 'यदि किसी बच्चे के लिए किन्हीं दो समृद्ध भाषाओं के साथ जीना पड़े तो यह बहुत खराब होगा। उसका बौद्धिक और आध्याात्मिक विकास दोगुना नहीं हो जाएगा बल्कि वह आधा-अधूरा होगा। इन स्थितियों में मन-मस्तिष्क और व्यक्तित्व की एकता कायम रखना बहुत कठिन होगा।' (It is the functional allocation 'If it were possible for a child to live in two languages at once equally well, so much the worse. His intellectual and spritual growth would not there by be doubled, but halved. Unity of mind and character would have great difficulty in asserting itself in such circumstances.') (Laurie 1890 : 15) अधिक भाषाएँ सीखने को हानिकारक मानने सम्बन्धी यही धारणा तकरीबन कई वर्षों तक समस्त विश्व में कायम रही। लेकिन परवर्ती विद्वानों ने इस धारणा को गलत सिद्ध करके द्विभाषिकता के सकारात्मक पहलुओं पर प्रकाश डाला। इन पहलुओं को जिन संदर्भों में देखा जा सकता है, वे हैं – बहुभाषिकता और बौद्धिक विकास; बहुभाषिकता और सर्जनात्मक चिंतन; बहुभाषिकता और संप्रेषणात्मक संवेदनशीलता; और बहुभाषिकता और राष्ट्रीय विकास।

8.4.1 बहुभाषिकता और बौद्धिक विकास

बौद्धिक विकास के संदर्भ में बहुभाषिकता पर विचार करते हुए लॉरि जैसे कुछ विद्वानों की यह धारणा रही है कि बहुभाषिकता मनुष्य के बौद्धिक विकास में बाधक है और बहुभाषिकता के बढ़ने के साथ-साथ बौद्धिक स्तर घटता है। उनका यह मानना रहा है कि बहुभाषी परिवेश के बालक एकभाषी बालक की तुलना में शिक्षा के स्तर पर पिछड़े हुए रहते हैं और उनका व्यक्तित्व भी खंडित हो जाता है। इस दृष्टि के परिणामस्वरूप एकाधिक भाषा का ज्ञान अर्जित करने को शैक्षिक भार मान लिया जाता है। इस प्रकार बहुभाषिकता और बौद्धिक विकास को विपरीतात्मक रिश्ते के रूप में देखा जाता था।

देश-विदेश के अनेक भाषावैज्ञानिकों के इस संदर्भ में किए गए अध्ययन इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि द्विभाषिकता, बौद्धिक विकास में बाधक न होकर साधक है; बहुभाषिकता के बढ़ने के साथ-साथ बौद्धिक स्तर भी ऊँचा होता है। व्यक्ति भाषा के दायरे में रहकर ही सोचते-समझते हैं तो बहुभाषिकता उनके इस दायरे को विस्तार प्रदान करती है। इस विस्तार के परिणामस्वरूप वे अन्य भाषाओं के प्रति संवेदनशील बनते हैं। बच्चों के बौद्धिक विकास पर बहुभाषिकता के प्रभाव जानने के संदर्भ में किए गए अध्ययन बताते हैं कि एकभाषी बालकों

की अपेक्षा द्विभाषी बालकों की भाषायी क्षमता का बेहतर विकास होता है। शब्द एवं अर्थ के बीच के सम्बन्ध के बारे में जानने-समझने में द्विभाषिक बच्चों में बेहतर समझ विकसित होती है। इसलिए अब यह माना जाता है कि बहुभाषिकता और बौद्धिक विकास में विपरीतात्मक रिश्ता नहीं है; बहुभाषिकता से मनुष्य का बौद्धिक विकास ही होता है।

8.4.2 बहुभाषिकता और सर्जनात्मकता

बहुभाषिकता को सर्जनात्मक प्रतिभा के ह्रास से जोड़कर भी देखा जाता रहा है। इस संदर्भ में लोगों की यह धारणा भी है कि द्विभाषिकता मानव-मन के सर्जनात्मक चिंतन को, उसकी सर्जनात्मक शक्ति को कम करती है। यह धारणा इस दृष्टि पर आधारित रही है कि अगर व्यक्ति दो भाषाओं के स्थान पर एक भाषा को सीखने में शक्ति का उपयोग करे तो उसका सहज, सार्थक और सर्जनात्मक भाषा विकास होता है। इसी आधार पर इस मान्यता का चलन रहा है कि बहुभाषिक परिवेश में उच्च कोटि का साहित्य सृजन संभव नहीं है।

जबकि इस सम्बन्ध में किए गए अध्ययन यह बताते हैं कि बहुभाषिकता, बौद्धिक प्रतिभा का क्षय नहीं करती है। दो या कई भाषाएँ व्यवहार करने के कारण उनमें भाषांतरण की मौलिक क्षमता का विकास होता है जो उनके व्यावहारिक और सांस्कृतिक बोध को सम्पन्न बनाता है। मनोवैज्ञानिकों ने एकभाषिक बच्चों की तुलना में बहुभाषिक बच्चों को अधिक सर्जनात्मक, कल्पना-प्रवण एवं स्वतंत्र चिंतक माना है।

बहुभाषिकता और सर्जनात्मकता के अंतर्सम्बन्ध को बहुभाषिक प्रतिभाशाली साहित्यकारों द्वारा साहित्यिक परम्परा में दिए गए योगदान के संदर्भ में भी देखा जा सकता है। फ्रांसीसी और अंग्रेजी के प्रति रूचि रखने वाले पाश्चात्य साहित्यकार सैमुअल बैकेट इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। भारतीय साहित्यिक परम्परा में योगदान देने वाले विभिन्न साहित्यकारों ने अपनी मातृभाषा से इतर भाषा में साहित्य रचना करके प्रतिष्ठा हासिल की है। इसके अलावा महात्मा गांधी, रवींद्रनाथ टैगोर जैसे भारतीय चिंतकों- साहित्यकारों ने प्रयोजनसिद्धि के रूप में द्विभाषिकता को अपनाया। भारत की साहित्यिक परम्परा में अनेक ऐसे साहित्यकार भी हुए हैं जिन्होंने एक से अधिक भाषा में साहित्य रचना की। इस संदर्भ में सबसे पहले मैथिल कोकिल विद्यापति के नाम का उल्लेख किया जा सकता है जिन्होंने संस्कृत, अवहट्ट और मैथिली में साहित्य रचना की। आधुनिक काल के साहित्यकारों में नागार्जुन, फणीश्वरनाथ रेणु, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, प्रेमचंद, माइकेल मधुसूदन दत्त, अमृतराय, कमलादास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल आदि ने भी एक से अधिक भाषाओं में अपनी कलम चलाई। लेकिन इस बहुभाषिकता के बावजूद उनकी सर्जनात्मकता में कहीं कोई कमी नहीं आई। इस तरह कहा जा सकता है कि यह मानना निरर्थक है कि द्विभाषिकता सर्जनात्मक चिंतन का क्षय करती है।

8.4.3 बहुभाषिकता और संप्रेषणात्मक संवेदनशीलता

बहुभाषिकता को संप्रेषणात्मक संवेदनशीलता के परिप्रेक्ष्य में भी देखा जाता है। संप्रेषणात्मक संवेदनशीलता का अर्थ यह है कि किस परिस्थिति में कौन-सी भाषा बोली जानी है और वक्ता किस सूचना के आधार पर अपने आपको कैसे व्यक्त करते हैं। यह समाज की भाषायी संप्रेषण व्यवस्था को दर्शाता है।

समाज की सहज भाषायी संप्रेषण व्यवस्था को बहुभाषिकता से जोड़कर देखते हुए पश्चिम की एकभाषी परिस्थितियों से परिचित विद्वानों ने बहुभाषिकता को सहज संप्रेषण में बाधक माना है। उनकी दृष्टि के आधार पर द्विभाषिकता अथवा बहुभाषिकता भले ही विसंगतिपूर्ण हो सकती है, किंतु एशिया और अफ्रीका के बहुभाषा-भाषी देशों के लिए यह सहज-सामान्य है। विशेष तौर पर भारत के संदर्भ में ही देखें तो भाषिक बहुलता की इस स्थिति को सहज भाव से लेते हुए भाषा-बहुलता को संप्रेषण के लिए व्यवहार में लाया जाता है। उदाहरण के लिए, आम तौर पर व्यक्ति पारिवारिक और आत्मीय भाव को व्यक्त करने के लिए मातृभाषा को व्यवहार में लाते हैं, स्थानीय सामाजिक संदर्भों का निर्वाह करने के लिए वह स्थानीय बोली को व्यवहार में लाते हैं। वहीं, क्षेत्रीय स्तर पर क्रियाकलाप और व्यवहार के लिए जनपदीय बोली अथवा भाषा को माध्यम बनाया जाता है। वहीं, अगर यह क्रियाकलाप अथवा व्यवहार अंतर-क्षेत्रीय रूप लिए हुए हो जाता है तो एक अन्य भाषा को माध्यम बनाया जाता है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक प्रो. पी.बी. पंडित द्वारा उद्धृत वह गुजराती मसाले का व्यापारी आदर्श प्रतिमान है जो एक साथ पाँच-छह भाषाओं को व्यवहार में लाता है। वह परिवार में गुजराती,

नौकरों के साथ और सब्ज़ी बाजार में मराठी, घर से बाहर अंग्रेजी और हिन्दी, कुछ व्यापारी मित्रों के साथ कोंकणी का एक साथ प्रयोग कर सकता है। यह व्यापारी भारतीय भाषा-भाषी समाज का अपवाद न होकर सहज प्रतिभा का सूचक है। संप्रेषणात्मक संवेदनशीलता के आधार पर इस प्रकार का भाषायी संप्रेषण भिन्न-भिन्न भाषाएँ/बोलियों के प्रयोग तक ही सीमित न रहकर इसमें विभिन्न परिस्थितियों में दो या अधिक भाषाओं का मिला-जुला प्रयोग भी शामिल हो जाता है। भाषाओं के मेल-जोल की इस प्रक्रिया से भाषाओं का विकास होता है, उनकी शब्दावली समृद्ध-सम्पन्न होती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि संप्रेषणात्मक संवेदनशीलता की दृष्टि से भी बहुभाषिकता का विशेष महत्व है।

8.4.4 बहुभाषिकता और राष्ट्रीय विकास

एकभाषी पाश्चात्य समाज बहुभाषिकता को राष्ट्रीय विकास में बाधक के रूप में देखता है। इस मान्यता को स्वीकार करने वाले भाषाविदों का कहना है कि एकभाषा-भाषी होना किसी भी देश की स्वाभाविक स्थिति है, भाषा की दृष्टि से समरूप देश आर्थिक दृष्टि से अधिक विकसित, शैक्षिक दृष्टि से अधिक उन्नत, राजनीतिक दृष्टि से अधिक प्रगतिशील एवं चिंतन की दृष्टि से अधिक प्रौढ़ एवं संतुलित होते हैं। इसी तरह से एक भाषायी समाज की प्रति व्यक्ति आय को भाषा समरूपता का आधार बनाकर राष्ट्रीय विकास के संदर्भ में देखा जाता रहा है।

बहुभाषिकता के कारण राष्ट्रीय विकास न होने सम्बन्धी धारणा का कोई सार्थक आधार नहीं है। डॉ. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव ने इस विचार को सोदाहरण स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'ऐसे कई देशों के नाम गिनाए जा सकते हैं जो अपनी भाषायी प्रकृति में विषमरूपी होकर भी आर्थिक दृष्टि से समुन्नत हैं; उदाहरण के लिए - बेल्जियम, कनाडा, स्विट्ज़रलैंड, इज़राइल, सोवियत संघ (विभाजन पूर्व), बल्गारिया, त्रिनिदाद आदि। इसी प्रकार से कई देशों के नाम गिनाए जा सकते हैं, जहाँ प्रति व्यक्ति कुल राष्ट्रीय आमदनी बहुत ही कम है यद्यपि वे भाषायी स्तर पर समरूपी हैं, जैसे - अल्बानिया, ब्राज़ील, मैक्सिको, पुर्तगाल, जोर्डन, कोरिया, लीबिया, सोमिलिया, यमन आदि। इसलिए यह कहना कि भारत, पाकिस्तान, नेपाल, इंडोनेशिया, ईरान, नाइजीरिया, सीरिया, टर्की, पेरु, सूडान, युगांडा आदि देश इसलिए अविकसित हैं कि वे भाषायी प्रकृति में विषमरूपी हैं - तर्कसंगत नहीं। (हिन्दी भाषा का समाजशास्त्र, डॉ. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव, पृ. 240)

अगर हम भारत के संदर्भ में ही बहुभाषिकता को राष्ट्रीय विकास के संदर्भ में देखें तो यह स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं कि यहाँ प्राचीनकाल से ही बहुभाषिकता की स्थिति व्याप्त है। बहुभाषिकता की इसी स्थिति के दौरान ही यहाँ के इतिहास का मध्यकाल 'स्वर्णकाल' रहा है। यहाँ की बहुभाषिकता 'विविधता में एकता' को पुष्ट करती आई है - यह बहुभाषिकता भारतीय जीवन की आंतरिक लय की द्योतक है।

8.5 भारतीय बहुभाषिकता का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

भारत एक बहुभाषा-भाषी देश है। बहुभाषिकता की यह स्थिति भारतीय समाज का सहज लक्षण है, सामाजिक उत्थान का माध्यम है। यहाँ की बहुभाषिकता भारतीय विद्वता की अनूठी उपलब्धि है। यहाँ प्राचीनकाल से ही बहुभाषिकता की स्थिति है। यहाँ विभिन्न भाषा-परिवारों की भिन्न-भिन्न भाषाएँ प्रयोग में लाई जाती हैं। इन भाषा-परिवारों के बारे में आप इस पाठ्यक्रम के पहले खंड में पढ़ चुके हैं।

भारत की बहुभाषिकता का स्वरूप पश्चिमी देशों की बहुभाषिकता के स्वरूप से अलग है। आप भाग 8.4 में पहले ही पढ़ चुके हैं कि पश्चिम के अधिकांश देश एकभाषिक रहे हैं या फिर अगर वहाँ बहुभाषिकता की स्थिति है भी तो उसके मूल में यह कारण रहा है कि वहाँ लोग अन्य जगहों से प्रवास करके पहुँचे हैं। पश्चिमी देशों में एक भाषा प्रमुख और दूसरी भाषाएँ गौण होती हैं। लेकिन भारतीय बहुभाषिकता को पश्चिम से इस दृष्टि से भिन्न कहा जा सकता है कि यहाँ दूसरी-तीसरी पीढ़ी तक आते-आते बहुसंख्यकों की प्रमुख भाषा अपनाने और अपनी भाषा को त्याग देने की विवशता की स्थिति नहीं होती।

भारत की अनेक भाषाएँ प्रमुख भारतीय भाषाएँ हैं और यहाँ के परिवेश में एकाधिक भाषा को व्यवहृत करना स्वाभाविक-सामान्य स्थिति माना जाता है। यहाँ के प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में हर भाषा के व्यवहार के लिए एक

स्वतंत्र स्थान है। यहाँ मातृभाषा के साथ-साथ अन्य भाषाओं को सहज-स्वाभाविक रूप में अपनाए जाने की प्रवृत्ति रही है। अन्य भाषाओं को अपनाने से व्यक्ति व्यापक समुदाय से जुड़ते हैं। शिक्षा, व्यवसाय आदि की जरूरत इस जुड़ाव का कारण है। इस प्रकार की जरूरतें आम भारतीयों के अपनी बोली और क्षेत्रीय भाषा के साथ-साथ राजभाषा हिन्दी और अंग्रेज़ी भाषा से जुड़ने का कारण बनती हैं। लोग परिवार, स्थानीय समुदाय, आपसी व्यवहार, शिक्षा आदि विभिन्न संदर्भों में विभिन्न भाषाओं से जुड़ते हैं। डॉ. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव ने इस स्थिति को उदाहरण देकर स्पष्ट करते हुए अपनी – 'हिन्दी भाषा समाजशास्त्र' शीर्षक पुस्तक में संकलित आलेख 'बहुभाषिकता और हिन्दी भाषायी समाज' में लिखा है 'बिहार के सन्थाली समाज को ही लें। अपने जीवन के पारिवारिक संदर्भ में वे सन्थाली का प्रयोग करते हैं; पर अपने वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन के दायरे से बाहर आकर वे स्थानीय बोलियों का उपयोग करते देखे जाते हैं, और जीवन के एक दूसरे आयाम पर वे क्षेत्रीय बोलियों (भोजपुरी, मैथिली और मगही) को भी अपनाते देखे जा सकते हैं। प्रारंभिक शिक्षा के लिए उनमें से अधिकांश अखिल भारतीय हिन्दी के परिनिष्ठित रूप को ग्रहण करते हैं, क्योंकि हिन्दी प्रदेश की यह विशेषता रही है कि वह स्थानीय बोली के घेरे से बाहर निकलकर हिन्दी को माध्यम भाषा के रूप में स्वीकार कर शिक्षा ग्रहण करने की ओर प्रवक्त होता है। इस पूरे समाज में साक्षरता का सवाल बोली के स्थान पर क्षेत्रीय भाषा या हिन्दी के सीखने की प्रक्रिया से जुड़ा है। आगे जब उच्च शिक्षा की बात उठती है तब यही हिन्दी अंग्रेज़ी भाषा के सीखने और अपनाने की समस्या से जुड़ जाती है।' (पृ. 266-267) डॉ. श्रीवास्तव के ये विचार भारत के अन्य भाषा-भाषियों पर भी समान रूप से लागू होते हैं।

8.5.1 साहित्य-रचना और लोक-व्यवहार में बहुभाषिकता

भारत प्राचीनकाल से ही बहुभाषा-भाषी लोगों की जन्मभूमि और कर्मभूमि रहा है। इतिहास बताता है कि यहाँ हर युग में भारतीयों की मातृभाषा कुछ और थी, भिन्न-भिन्न जातियों को जोड़ने वाली भाषा कुछ और, तथा बौद्धिक चेतना (या फिर कहा जा सकता है कि पद-प्रतिष्ठा) की भाषा कुछ और थी। बहुभाषिकता की इस स्थिति को लोग सामाजिक अथवा व्यक्तिगत कमी नहीं मानते थे। एक से अधिक भाषाओं में कार्य करना गौरव का विषय होता था। इसलिए द्विभाषियों के प्रति विशेष सम्मान का भाव होता था।

भारत के विभिन्न भाषा-परिवारों के बीच की भाषिक समानताएँ सदियों से चली आ रही हैं। सम्पर्क की स्थिति के परिणामस्वरूप इस काल में आर्यभाषा और द्रविड़ भाषाओं के सम्मिश्रण की प्रवृत्ति मिलती है। संस्कृत शताब्दियों तक विद्वत-समाज के चिंतन-मनन और प्रशासन-तंत्र आदि की माध्यम-भाषा रही है। प्राचीनकाल में यह बौद्धिक चेतना की भाषा रही, जिसका व्यवहार उत्तर भारत के साथ-साथ दक्षिण भारत में भी था। विद्वानों ने पालि और संस्कृत और तमिल, संस्कृत और अर्ध-मागधी, पालि और अर्ध-मागधी के बीच व्यावहारिक सेतु स्थापित किए थे। उदाहरण के लिए, मध्ययुगीन भक्तिकालीन आंदोलन के दक्षिणाचार्यों की मातृभाषा द्रविड़ भाषा-परिवार की भाषा थी, लेकिन उन्होंने ब्रजभाषा में पुनर्जागरण किया और संस्कृत भाषा में तत्व-चिंतन किया।

किंतु समय बीतने के साथ-साथ संस्कृत में परिवर्तन होने आरंभ हुए और वह सरलता की ओर उन्मुख हुई। सरलीकरण की यह प्रक्रिया रूपावली (शब्द-रचना) में बोलचाल की भाषाओं के स्तर पर शुरू हुई। कालक्रमानुसार इस विकासक्रम में सामान्य बोलचाल में संस्कृत के साथ-साथ पालि-प्राकृत और अपभ्रंश जैसी विविध प्राकृत न केवल अस्तित्व में आईं बल्कि उन्होंने तत्कालीन समाज में अपना स्थान बनाना शुरू भी किया। लोक-व्यवहार में प्रचलित ये जन-बोलियाँ लोक-साहित्य की भाषा के रूप में उभरकर सामने आईं और संस्कृत के समानांतर चलती रहीं। इनमें धीरे-धीरे सृजनात्मक साहित्य सृजन शुरू हुआ। भक्त कवियों ने इन जन-बोलियों को अपने द्वारा विरचित उत्कृष्ट साहित्य से समृद्ध-सम्पन्न किया। लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं कि इस भाषिक विकासक्रम के दौरान संस्कृत भाषा पूरी तरह से अपदस्थ हो गई थी। वस्तुतः पालि आदि के साथ-साथ प्रशासन, साहित्य और व्यवहार के स्तर पर संस्कृत का प्रयोग समानांतर चलता रहा।

संस्कृत भाषा के विकासक्रम की कड़ियों के रूप में उभरी पालि-प्राकृत और अपभ्रंश लोक-व्यवहार में तो प्रयुक्त होती ही थीं, साहित्य में भी इन्होंने अपना एक सुनिश्चित स्थान बना लिया था। इनमें से पालि तो राज-काज की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुई और साथ ही धर्म की भाषा भी। महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेश पालि में दिए। इसके

अतिरिक्त संस्कृत और प्राकृत में नाट्य-साहित्य सृजन इस समानांतर विकास का द्योतक है। यह भी भारतीय समाज में बहुभाषिकता की स्थिति को दर्शाता है। हालांकि उस परिवेश में राज-काज में संस्कृत भाषा प्रयुक्त होती थी, किंतु सामान्यजन और निम्न वर्ग के लोग आम बोलचाल में पालि-प्राकृत आदि विविध प्राकृत बोलते थे। इस प्रकार लोग प्राकृत भाषाओं के साथ-साथ संस्कृत से भी परिचित थे, समझते थे। समय के साथ-साथ इन अपभ्रंश भाषाओं के स्थानीय रूपों का विकास हुआ। अपभ्रंश के इन्हीं स्थानीय रूपों से ही हिन्दी, गुजराती, मराठी, बांग्ला, ओड़िया, असमिया आदि आधुनिक भारतीय भाषाएँ विकसित हुईं और ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में प्रयुक्त होने लगीं। आज ये हर क्षेत्र में अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम हैं।

इसी दौरान, दक्षिण में द्रविड़ परिवार की भाषाओं का जन्म हुआ। भाषावैज्ञानिक आधार पर द्रविड़ भाषाओं का उद्‌भव संस्कृत से नहीं हुआ, किंतु फिर भी शब्दावली, लिपि, वर्तनी, उच्चारण, वाक्य-संरचना आदि की दृष्टि से उनमें कई समान तत्व हैं, उनका आर्य-भाषाओं से अद्‌भुत साम्य है। इन समान तत्वों का मूलाधार सम्पर्क और परस्पर आदान-प्रदान रहा है।

भारतीय बहुभाषिक समाज की यह विशेषता कही जा सकती है कि यहाँ जिस प्रकार अनेक भाषाओं को व्यवहृत किया जाता है उसी तरह से साहित्यकार-लेखक भी एक से अधिक भाषाओं में साहित्य रचना करते हैं। इस संदर्भ में भारतीय साहित्य जगत के अनेकानेक साहित्यकारों के नामों का उल्लेख किया जा सकता है। महाकवि कालिदास, मैथिल-कोकिल विद्यापति, प्रेमचंद्र, उपेंद्रनाथ अश्क, फणीश्वरनाथ रेणु, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय', यू.आर. अनंतमूर्ति, के. सच्चिदानंदन आदि ने एक से अधिक भाषाओं में साहित्य रचना की। स्थिति यह भी रही है कि साहित्यकार-लेखक ने अपनी किसी भी कृति-विशेष में ही एक से अधिक भाषाओं में साहित्य रचना की। जैसे, कालिदास ने अपने नाटक 'अभिज्ञानशाकुंतलम' में संस्कृत के अतिरिक्त शौरसैनी, महाराष्ट्री और मागधी प्राकृत का प्रयोग किया।

इसके साथ-साथ, लोक-व्यवहार में भी बहुभाषिकता की स्थिति थी। ऐसा कहा जाता है कि कच्छ-प्रदेश के आसपास यूनान के कुशल काष्ठकारों की एक पूरी बस्ती बसी हुई थी। दूसरी ओर, यह तो इतिहास-सिद्ध है कि अलबेरूनी, फाहियान और ह्वेनसांग जैसे अरबी-चीनी यात्री भारत आए थे। इन यात्रियों के भारत आगमन-प्रस्थान के प्रभाव से अरबी-चीनी भाषा-भाषियों का हमारे समाज से निरंतर सम्पर्क स्थापित हो रहा था। विश्व-विजय का स्वप्न लेकर यूनान से चले अरस्तू-शिष्य सिकन्दर के भारत-आगमन पर यहाँ के राजा पर्वतेश्वर (पोरस) से उसकी जो जग-प्रसिद्ध बातचीत हुई थी वह मूलतः दो भिन्न भाषा-भाषियों (ग्रीक और संस्कृत-भाषियों) के बीच हुई थी। और यह बातचीत अवश्य ही दोनों भाषाओं के भाषांतरकार के माध्यम से सम्पन्न हो पाई होगी। तथा, तत्कालीन सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ सिकन्दर के सेनापति (सेल्युकस) की पुत्री के विवाह से दो भिन्न भाषा-भाषियों के बीच स्थापित हुए पारिवारिक सम्बन्धों से दोनों भाषाओं को बोलने-समझने वालों की संख्या में अवश्य वृद्धि हुई होगी। महात्मा बुद्ध और महावीर के समय 'प्राकृत' लोकभाषा थी और पालि साहित्यिक भाषा के रूप में प्रचलित थी। मुगलों के शासनकाल के दौरान बहुभाषिकता की स्थिति में बढ़ोत्तरी हुई। मुगलों की मातृभाषा तुर्की थी, धर्म एवं साहित्यिक संस्कार की भाषा अरबी और साहित्य की भाषा फारसी। फारसी मुगलकाल में राजकाज की भाषा बनी, जबकि इससे पहले यह दायित्व कालक्रम के अनुसार संस्कृत-पालि आदि निभा चुकी थीं। यह स्थिति वास्तव में अनेक भाषाओं की सुदीर्घ परम्परा की निरंतरता को दर्शाती है। विभिन्न स्तरों पर भाषाओं की समुचित प्रतिष्ठा बनाए रखते हुए उन्हें विकसित होने का अवसर रहा। यह सब भारतीय संस्कृति के मूलाधार -- समन्वय की प्रवृत्ति -- के कारण संभव हो पाया जिसने भारत की बहुभाषिकता को और अधिक पुष्ट किया।

ब्रिटिश शासनकाल में अंग्रेजी भाषा के आगमन ने देश में बहुभाषिकता की स्थिति में और संवृद्धि की। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से परिचय की भाषा अंग्रेजी बौद्धिक चेतना का आधार बनी और साथ ही राजकाज की भाषा भी।

राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के भिन्न-भिन्न मातृभाषियों ने हिन्दी को राष्ट्रीय चेतना की वाहक भाषा के रूप में अपनाया और बौद्धिक चेतना की भाषा के रूप में अंग्रेजी अथवा संस्कृत को। उदाहरण के लिए, गुजराती मातृभाषी राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने हिन्दी अथवा हिंदुस्तानी को जनांदोलन की भाषा के रूप में बढ़ावा दिया लेकिन साथ ही बौद्धिक चेतना की भाषा के रूप में अंग्रेजी को भी निस्संकोच अपनाया। अंग्रेजों ने भारत में अंग्रेजी भाषा को

योजनाबद्ध शैक्षणिक प्रयासों में स्थापित किया। आधुनिक ज्ञान को आत्मसात् करने की भाषा के रूप में अंग्रेजी ने अपनी जड़ें मजबूत कर लीं, जिसका नतीजा यह रहा कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारतीय भाषाओं के सम्बन्ध में संवैधानिक प्रयास तक करने पड़े।

8.5.2 विधायिका और कार्यपालिका के क्षेत्र में द्विभाषिकता

विधायिका के अंतर्गत संघ के स्तर पर संसद के दोनों सदन (राज्यसभा और लोकसभा) तथा राज्य में विधानमंडल के दो (अथवा कहीं-कहीं सिर्फ एक) सदन -- विधान सभा और विधान परिषद -- शामिल हैं। संसद में देश के कोने-कोने से सांसद (Member of Parliament) आते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि संसद में अखिल भारतीय प्रतिनिधित्व होता है। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व केन्द्रीय विधानसभा (Central Legislative Assembly) में अंग्रेज़ी का बोलबाला था। केन्द्रीय विधानसभा की पूरी कार्यवाही अंग्रेज़ी भाषा में ही होती थी। सदस्यों को केवल अध्यक्ष अथवा सभापति की अनुमति से ही हिंदुस्तानी में बोलने की अनुमति थी। स्वतंत्रता के पश्चात भी अधिकांश सदस्य अंग्रेज़ी को ही प्रयुक्त करते थे। लेकिन धीरे-धीरे इस स्थिति में बदलाव आना शुरू हुआ। अब स्थिति यह हो चुकी है कि काफी अधिक सदस्य न केवल हिन्दी का प्रयोग करते हैं बल्कि अपनी मातृभाषा में भी भाषण देते हैं। इस तरह, विधायिका में बहुभाषिकता की स्थिति है।

जहाँ तक कार्यपालिका का सम्बन्ध है, इसका क्षेत्र सर्वाधिक व्यापक है। कार्यपालिका के कार्य-क्षेत्र में विभिन्न मंत्रालय, विभाग, देश के विभिन्न भागों में स्थापित केन्द्र सरकार के कार्यालय, केन्द्र सरकार द्वारा नियुक्त आयोग, समितियाँ, प्राधिकरण, पूर्णतः सरकार के अनुदान से स्थापित स्वायत्त संस्थाएँ, सरकारी उपक्रम-प्रतिष्ठान आदि शामिल हैं। इसी प्रकार राज्य सरकारों के कार्यालय की परिभाषा के अंतर्गत आने वाले राज्य सरकारों के उपर्युक्त स्वरूप के सभी कार्यालय शामिल हैं।

आप पहले ही पढ़ चुके हैं कि ब्रिटिश शासनकाल के दौरान अंग्रेजी भारत की राजभाषा थी। यानी उस समय देश की शासन-व्यवस्था को चलाने के लिए अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया जाता था। सरकारी पत्र-व्यवहार, प्रशासन और न्याय व्यवस्था में इस भाषा का प्रयोग होता था। किंतु राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन की भाषा हिन्दी रही थी और तब नेताओं ने यह महसूस किया था कि हिन्दी स्वाधीन भारत की राजभाषा होगी। आजादी के बाद यह भी अनुभव किया गया कि शासन-प्रशासन की पूरी व्यवस्था से जुड़े सभी काम अपने देश की भाषा में ही किए जाएँ। इसलिए अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को राजभाषा के रूप में अपनाया गया और भारत के संविधान में अनुच्छेद 343 से 351 में संघ की राजभाषा के सम्बन्ध में व्यवस्था की गई। इसी प्रकार, संविधान के अनुच्छेद 120 में संसद की भाषा सम्बन्धी प्रावधान भी किए गए और यह भी व्यवस्था की गई कि अनुच्छेद 348 के उपबंधों के अधीन रहते हुए संसद में कार्य हिन्दी या अंग्रेजी में होंगे।

26 जनवरी 1950 को भारतीय संविधान लागू हुआ और सरकारी काम-काज की भाषा के रूप में हिन्दी राजभाषा बनी। चूँकि ब्रिटिश शासनकाल से चली आ रही राजभाषा अंग्रेजी को एकदम हटाना और उसके स्थान पर हिन्दी का एकदम प्रयोग शुरू करना संभव नहीं था, इसलिए संविधान में हिन्दी को संघ की राजभाषा बनाने के साथ-साथ अगले पंद्रह वर्षों तक की अवधि के लिए राजभाषा के रूप में अंग्रेजी के प्रयोग को जारी रखने की व्यवस्था भी की गई। इसमें यह भी व्यवस्था की गई कि राष्ट्रपति आदेश जारी करके कुछ शासकीय प्रयोजन निर्धारित करेंगे जिसमें अंग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी का प्रयोग किया जाएगा। इस प्रकार की संवैधानिक व्यवस्था से शासन-तंत्र के स्तर पर द्विभाषिकता की स्थिति बन गई।

संविधान में राजभाषा सम्बन्धी प्रावधानों के अनुसार भारत संघ के राजकीय काम-काज में शुरू हुई द्विभाषिकता की इस स्थिति का बाद में क्रमिक विकास होता चला गया। संवैधानिक व्यवस्था के आधार पर पाँच वर्ष बाद 7 जून 1955 को श्री बाल गंगाधर खेर की अध्यक्षता में एक राजभाषा आयोग की स्थापना की गई। इसके प्रतिवेदन पर विचार के लिए संसदीय राजभाषा समिति गठित की गई, जिसने 1958 में अपनी सिफारिश सौंप दीं। समिति ने अपनी रिपोर्ट में अंग्रेजी को सरकारी कामकाज की भाषा के रूप में संविधान में उल्लिखित 15 वर्ष की अवधि के बाद भी जारी रखने की सिफारिश की थी। इसके आधार पर बनाए गए राजभाषा अधिनियम 1963 के अनुसार अंग्रेजी को सह-राजभाषा के रूप में व्यवहार में लाए जाने की व्यवस्था की गई। अधिनियम के अनुसार

द्विभाषिकता की इस स्थिति ने देश में प्रशासन के स्तर पर स्थायी रूप धारण कर लिया। इसकी धारा 3(3) में उल्लिखित संकल्प, साधारण आदेश, नियम, अधिसूचनाएँ, प्रशासनिक एवं अन्य प्रतिवेदन, प्रेस विज्ञप्तियाँ, संविदाएँ और करार, संसद के समक्ष रखे जाने वाले प्रतिवेदन एवं अन्य दस्तावेज, अनुज्ञप्तियाँ, अनुज्ञा-पत्र, सूचनाएँ और निविदा-प्ररूप जैसे सरकारी कामकाज के कागज-पत्रों का हिन्दी और अंग्रेजी भाषाओं में प्रयोग करना अनिवार्य हो गया। इसी के साथ-साथ संसद की कार्यवाही में हिन्दी के साथ-साथ अंग्रेजी का प्रयोग जारी रहने की व्यवस्था कर दी गई।

किंतु 1965 में लागू इस राजभाषा अधिनियम को अहिन्दी-भाषियों के विरोध के कारण 1967 में संशोधित किया गया। इसके अनुसार संघ के राजकीय प्रयोजनों के लिए और संसद के प्रयोग के लिए अंग्रेजी भाषा का प्रयोग करने से सम्बन्धित यानी अंग्रेजी को सह-राजभाषा का दर्जा देने वाली इस धारा 3 में संशोधन करके एक नई धारा जोड़ दी गई। इस नई धारा में यह कहा गया कि उन सभी राज्यों के विधान मंडल जिन्होंने हिन्दी को अपनी राजभाषा के रूप में नहीं अपनाया है; अंग्रेजी भाषा का प्रयोग समाप्त कर देने के लिए संकल्प पारित कर संसद को नहीं भेज देते और संसद के दोनों सदन से संकल्पों पर विचार कर ऐसी समाप्ति के लिए दोनों सदनों में संकल्प पारित नहीं कर देते तब तक धारा 3 के उपबंध जारी रहेंगे।

राजभाषा अधिनियम के आधार पर वर्ष 1976 में राजभाषा नियम अधिसूचित किए गए। इस नियम के अनुसार भी राजकाज से सम्बन्धित अनेक कार्यों में हिन्दी और अंग्रेजी, दोनों ही भाषाओं का प्रयोग आवश्यक है। इसके अनुसार केन्द्र सरकार के कार्यालयों से सम्बन्धित सभी मैनुअल, संहिताएँ (codes), प्रक्रिया सम्बन्धी साहित्य (procedural literature), फार्म, रजिस्टरों के शीर्षक, नाम-पट्ट, सूचना-पट्ट, पत्र-शीर्ष (letter-head) तथा लेखन सामग्री की अन्य मदें हिन्दी और अंग्रेज़ी अर्थात द्विभाषिक रूप में होनी अपेक्षित हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि कार्यपालिका और विधायिका के क्षेत्र में द्विभाषिकता की स्थिति बनी हुई है।

8.5.3 न्यायपालिका के क्षेत्र में द्विभाषिकता

पिछले भाग में स्पष्ट किया जा चुका है कि संघ के राजकीय प्रयोजनों के साथ-साथ संसद के प्रयोग के लिए अंग्रेजी भाषा का प्रयोग जारी रहने सम्बन्धी वैधानिक व्यवस्था ने देश में वैधानिक द्विभाषिकता की स्थिति उत्पन्न की है। न्यायपालिका का क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं है, इसमें द्विभाषिकता की स्थिति है। न्यायपालिका के अंतर्गत सर्वोच्च स्थान पर उच्चतम न्यायालय है और राज्यों के स्तर पर उच्च न्यायालय। उनके नीचे सिविल कोर्ट आदि अधीनस्थ न्यायालय आते हैं। इन सभी के द्वारा कानून और उसके अधीन की जाने वाली कार्यवाही (अर्थात कानून, नियम, विनियम, अध्यादेश, आदेश, विनिमय, उपविधियाँ आदि) और उनके आधार पर किसी मामले में की जाने वाली कार्यवाही और पारित निर्णय, आदेश आदि को न्यायपालिका के अंतर्गत शामिल किया जाता है।

भारत के संविधान का अनुच्छेद 348 विधि और न्याय की भाषा से सम्बन्धित है। इस अनुच्छेद में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि जब तक संसद कानून बनाकर कोई अन्य व्यवस्था नहीं करती तब तक देश के उच्चतम न्यायालय और प्रत्येक उच्च न्यायालय में सभी कार्य अंग्रेजी में होंगे। किंतु उच्च न्यायालयों के स्तर पर विधि और न्याय की भाषा के बारे में अनुच्छेद 348(2) के अनुसार राज्यों के राज्यपालों को यह अधिकार दिया गया है कि वे राष्ट्रपति की पूर्व-अनुमति से हिन्दी राज्यों में हिन्दी का और हिन्दीतर राज्यों में उस राज्य की राजभाषा का प्रयोग उच्च न्यायालय की कार्यवाहियों के लिए प्राधिकृत कर सकते हैं। वैसे विधि और न्याय की भाषा के विषय में संविधान के इस अनुच्छेद में आगे भी कुछ स्थितियाँ बनाई गई हैं जिनमें यह उल्लेख है कि किन दशाओं में हिन्दी का या अन्य भाषा का प्रयोग किया जा सकेगा। किंतु मुख्य बात यह है कि वैधानिक प्रावधानों के अनुसार, विधि और न्याय के क्षेत्र में आज भी द्विभाषिकता की स्थिति व्याप्त है।

8.5.4 शिक्षा के क्षेत्र में बहुभाषिकता

भारतीय शिक्षा व्यवस्था के क्षेत्र में भी बहुभाषिकता नजर आती है। यह बहुभाषिकता के गुण को उसके वास्तविक स्वरूप में समाहित किए हुए है। बहुभाषिक समाज में शिक्षा भी बहुभाषिक होती है। इसलिए भारत सरकार ने

माध्यमिक स्तर पर 'त्रिभाषा सूत्र' को अपनाया है। त्रिभाषा सूत्र ने द्विभाषिकता की स्थिति को पुष्ट किया है। भारतीय शिक्षा व्यवस्था के बहुभाषिक वैशिष्ट्य को विकसित एवं सुदृढ़ करना इस सूत्र का उद्देश्य है। भारत सरकार ने 1960 के दशक में त्रिभाषा-सूत्र का प्रवर्तन किया था। इस सूत्र की सिफारिश 1956 में उस समय के 'केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड' ने की थी, जिसे भारत सरकार के तत्कालीन शिक्षा मंत्रालय ने 1957-58 में 'त्रिभाषा सूत्र' के रूप में स्वीकार कर लिया था। 1961 में इसे मुख्यमंत्रियों के सम्मेलन में निम्नलिखित सरलीकृत रूप में स्वीकार किया गया :

1. क्षेत्रीय भाषा और मातृभाषा, जबकि मातृभाषा क्षेत्र भाषा से भिन्न हो।
2. हिन्दी अथवा हिन्दी-भाषा क्षेत्र में दूसरी (कोई अन्य) भारतीय भाषा।
3. अंग्रेजी अथवा कोई एक आधुनिक यूरोपीय भाषा।

इस सूत्र के प्रावधानों की सम्पुष्टि के लिए 1968 में भारतीय संसद के दोनों सदनों में एक संकल्प स्वीकार किया गया कि 'जबकि एकता की भावना के संवर्धन तथा देश के विभिन्न भागों में जनता में संचार की सुविधा हेतु यह आवश्यक है कि भारत सरकार द्वारा राज्य सरकारों के परामर्श से तैयार किए गए त्रिभाषा सूत्र को सभी राज्यों में पूर्णतः कार्यान्वित करने के लिए प्रभावी उपाय किए जाने चाहिए। यह सभा संकल्प करती है कि हिन्दी भाषी क्षेत्रों में हिन्दी तथा अंग्रेजी के अतिरिक्त एक आधुनिक भारतीय भाषा के, दक्षिण भारत की भाषाओं में से किसी एक को तरजीह देते हुए, और अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में प्रादेशिक भाषाओं के एवं अंग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी के अध्ययन के लिए उस सूत्र के अनुसार प्रबंध किया जाना चाहिए।' संसद के इस संकल्प के मूल में यह भावना थी कि पूरे देश के विद्यार्थी देश के स्तर पर अपनी भाषा के साथ-साथ हिन्दी सीख लेंगे। वैसे इस त्रिभाषा सूत्र के अनुसार भारत के प्रत्येक विद्यार्थी को अपनी-अपनी मातृभाषा के साथ-साथ हिन्दी और अंग्रेजी की भी शिक्षा स्कूल में दी जाती है।

उच्च शिक्षा अर्थात कॉलेजों-विश्वविद्यालयों में शिक्षा अधिकांशतः द्विभाषी माध्यम से दी जाती है। हिन्दी भाषी राज्यों में यह प्रायः अंग्रेजी और हिन्दी माध्यम में है तथा अन्य राज्यों में यह अंग्रेजी एवं राज्य की भाषा के माध्यम में। तकनीकी कॉलेजों-विश्वविद्यालयों एवं व्यावसायिक संस्थानों आदि में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी है। केवल कुछेक क्षेत्रों और कुछेक विश्वविद्यालयों में भारतीय भाषाओं को माध्यम के रूप में व्यवहार में लाया जा रहा है।

8.5.5 जनसंचार माध्यम और द्विभाषिकता

जनसंचार (मीडिया) के विभिन्न माध्यमों में बहुभाषिकता की स्थिति है। आज का युग जनसंचार (मीडिया) का युग है। जनसंचार के अंतर्गत जन-जन तक (यानी अधिसंख्य लोगों तक) किसी भाव, विचार, अनुभव अथवा जानकारी को सम्प्रेषित करना शामिल है। यह सम्प्रेषण किसी न किसी माध्यम से सम्पन्न हो पाता है। समाचार पत्र-पत्रिकाएँ, आकाशवाणी, टेलीविजन, फिल्म, वीडियो, कंप्यूटर, ई-मेल, इंटरनेट, मोबाइल फोन आदि की जनसंचार माध्यमों के रूप में गणना की जाती है। इंटरनेट ने तो विश्व के देशों के बीच की भौगोलिक दूरियों को खत्म कर दिया है, विश्व को एक ग्राम अर्थात् 'ग्लोबल विलेज' बना दिया है। जनसंचार के इन विभिन्न माध्यमों ने व्यक्ति से लेकर जन-समूह तक, एक देश से लेकर विभिन्न देशों तक को एक सूत्र में बाँध दिया है।

सम्प्रेषण जनसंचार का आधार है। मानव-जीवन में सम्प्रेषण का सबसे अधिक सशक्त माध्यम भाषा है। भाषा के कारण जनसंचार माध्यमों की उपयोगिता में अभिवृद्धि हो सकी है। जहाँ बहुभाषा-भाषी प्रयोक्ता वर्ग हो तो जन-जन को सम्प्रेषण के लिए निर्मित जनसंचार माध्यम किसी एक भाषा तक सीमित नहीं रह सकते। भारत जैसे बहुभाषिक और लोकतांत्रिक देश में जनसंचार माध्यमों की विशेष भूमिका है। कार्यपालिका, न्यायपालिका और विधायिका को लोकतंत्र का आधार-स्तंभ माना जाता है। वहीं मीडिया भी लोकतंत्र का चौथा आधार-स्तंभ है। लोकतंत्र की सफलता के लिए प्रतिबद्ध मीडिया की विशिष्ट भूमिका है।

भारत के संदर्भ में जनसंचार के विभिन्न माध्यमों में बहुभाषिकता की स्थिति को रेखांकित किया जा सकता है।

भारत की अनेक भाषाओं में टेलीविजन के सैकड़ों चैनल चल रहे हैं। अकेले जी.टी.वी., स्टार, एन.डी.टी.वी, सोनी, टी.वी.टुडे आदि के कई-कई चैनल हैं। इन समूहों द्वारा हिन्दी के अलावा भारत की बांग्ला, मराठी, ओड़िया,

गुजराती, कन्नड़, तमिल, मलयालम आदि विभिन्न प्रमुख भाषाओं में विभिन्न चैनलों का प्रसार किया जा रहा है। इसी तरह, रेडियो से भी अनेक भाषाओं में कार्यक्रम प्रसारित किए जाते हैं। आकाशवाणी से पूरे दिन में समय-समय पर विभिन्न भाषाओं में समाचार प्रसारित होते हैं। स्थिति यह हो चुकी है कि एफ.एम. रेडियो स्टेशनों से प्रसारित विभिन्न भाषाओं के कार्यक्रमों ने इसके अंदाज़ को ही बदलकर रख दिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि विभिन्न चैनलों से टेलीविजन पर प्रसारित आज के युग में लोगों का रेडियो की ओर भी झुकाव काफी बढ़ गया है।

समाचार पत्र-पत्रिकाओं के संदर्भ में देखें तो भारत में बहुभाषिकता की स्थिति व्याप्त है। स्थिति यह है कि यहाँ के बहुभाषिकता के परिदृश्य ने विश्व के मुद्रित माध्यम-जगत में भारत की हिस्सेदारी को प्रमुख बना दिया है। समाचार-पत्रों का क्षेत्र हो या फिर पत्रिकाओं का, विश्व के परिप्रेक्ष्य में भारतीय बाज़ार प्रमुखता रखता है। भारत में हर रोज़ लगभग एक सौ भाषाओं में समाचार-पत्र प्रकाशित होते हैं। यही स्थिति पत्रिकाओं की भी है, जो देश की विभिन्न प्रमुख भाषाओं में प्रकाशित होती हैं। यहाँ प्रेस ट्रस्ट ऑफ इंडिया (पी.टी.आई), यूनाइटेड न्यूज़ ऑफ इंडिया (यू.एन.आई), इंडो-एशिया न्यूज सर्विस (आई.ए.एन.एस.) हिंदुस्तान समाचार, भाषा, 'यूनीवार्ता और समाचार-भारती' नामक प्रमुख समाचार एजेंसियाँ हैं। ये एजेंसियाँ अद्यतन समाचारों के लिए काम कर रही हैं। ये अंग्रेजी और हिन्दी में समाचार संकलित कर उन्हें समाचार-पत्रों की जरूरत के अनुसार रिलीज करती हैं। टेलेक्स, टेलीफोन, टेलीप्रिंटर, फैक्स, वायरलैस और इंटरनेट आदि अनेक आधुनिक प्रौद्योगिकीय साधनों के कारण समाचारों का तीव्रता से आदान-प्रदान संभव हो पाता है। इंटरनेट पर गूगल जैसे सर्च इंजन सुविधाओं ने बहुभाषिकता को स्वीकार किया हुआ है। गूगल पर अंग्रेजी और हिन्दी के अलावा बांग्ला, तेलुगु, मराठी, तमिल, गुजराती, मलयालम, कन्नड़ और पंजाबी भाषाओं की भी सुविधा उपलब्ध है। गूगल इन भाषाओं में अनुवाद सेवा भी उपलब्ध करा रहा है। अब तक गूगल 63 भाषाओं में अनुवाद की सुविधा उपलब्ध करा रहा है, जिनमें से भारतीय भाषाओं की संख्या नौ है।

भारतीय मीडिया जगत में व्याप्त बहुभाषिकता की संक्षेप में बताई गई यह स्थिति दर्शाती है कि जनसंचार माध्यमों के विभिन्न क्षेत्रों में किस प्रकार बहुभाषिक परिदृश्य मौजूद है। वास्तविकता तो यह है कि यह क्षेत्र जिस प्रकार तेजी से और निरंतर फल-फूल रहा है, उसके मूल में इसके द्वारा बहुभाषिकता को अनुभूत करते हुए विस्तार करना शामिल है।

वास्तव में विभिन्न संदर्भों में भारत की बहुभाषिकता पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह बहुभाषिकता भारतीय विद्वता की अनोखी उपलब्धि है, भारतीय समाज की नींव है। कतिपय आलोचकों की दृष्टि में बहुभाषिकता की यह स्थिति भले ही जटिल प्रक्रिया लगती हो या फिर वे इसे एक दोष अथवा दुर्बलता मानते हों, किंतु भारतीय समाज की यह सहज-सामान्य स्थिति है। बल्कि यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार बहुभाषिकता यहाँ शक्ति का आधार है। भारत की इस बहुभाषिकता की स्थिति को भारतीय समाज की 'भाषा-सहिष्णुता' के प्रतीक रूप में व्यक्त किया जा सकता है।

8.6 बहुभाषिकता की स्थिति और अनुवाद की अपरिहार्यता

किसी भी देश-समाज में व्याप्त बहुभाषिकता की स्थिति अनुवाद पर अपरिहार्य रूप से निर्भर होने का आधार बन जाती है। वैसे अनुवाद की अपरिहार्य आवश्यकता केवल बहुभाषिक समाज के संदर्भ में ही नहीं, एकभाषिक समाज के संदर्भ में भी समान रूप से है क्योंकि आज ज्ञान-विज्ञान का इतनी तीव्र गति से विकास-विस्तार हो रहा है कि समृद्ध से समृद्ध भाषा-समाज को भी अन्य भाषा-समाजों की आवश्यकता है। इसके लिए वह अन्य भाषा-समाजों के वाङ्मय को अपनी भाषा में प्राप्त करने की भरसक कोशिश करता रहता है। अनुवाद के माध्यम से ही विभिन्न भाषाओं की ज्ञान-राशि का आदान-प्रदान संभव हो पाता है। बहुभाषिक समाज में अनुवाद विभिन्न भाषाओं के बीच संवाद सेतु का काम करता है। वहाँ विभिन्न भाषा-भाषियों के जीवन के सामान्य कार्यकलाप से लेकर सामाजिक-सांस्कृतिक, व्यावसायिक और शैक्षिक प्रयोग आदि जीवन के सभी महत्वपूर्ण संदर्भों में अनुवाद की विशेष तौर पर आवश्यकता हो जाती है।

भारत में अनुवाद लोगों के जीवन का अभिन्न अंग है। यहाँ की बहुभाषिकता को इस दृष्टि से व्यक्त किया जा सकता है कि लोग अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए यदि एक भाषा/बोली का प्रयोग करते हैं और प्रादेशिक अथवा देशीय आधार पर पड़ने वाली जरूरतों को पूरा करने के लिए दूसरी भाषा या फिर दोनों पक्षों द्वारा समझी जा सकने वाली भाषा का। बहुभाषी समाज के सदस्यों के रोज़मर्रा के जीवन में देखने में आता है कि उनके परिवार, कार्यस्थल, स्थानीय और क्षेत्रीय स्तर पर आपसी व्यवहार की भाषाएँ और बोलियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। इसलिए जब विभिन्न भाषा-भाषी लोग एक-साथ मिलते हैं और अपने रोज़मर्रा के जीवन की आवश्यकताओं आदि को पूरा करने के लिए एक-दूसरे के साथ सम्प्रेषण करते हैं तो वे अपने भावों और विचारों को मानसिक स्तर पर भाषांतरित करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि शिक्षा, व्यवसाय आदि की जरूरत और स्थानीय/क्षेत्रीय परिवेश की जरूरत के अनुसार अन्य भाषाओं को सहज-स्वाभाविक रूप से व्यवहार में लाते समय उनके मन में अनुवाद की प्रक्रिया चलती रहती है। ऐसे में अनुवाद भिन्न-भिन्न भाषा-भाषियों के बीच संवाद सेतु बन जाता है। इसलिए यहाँ की बहुभाषिक स्थिति उन्हें अपने रोज़मर्रा के जीवन में मौखिक स्तर पर स्वतःप्रेरित अनुवाद (automatic translation) अथवा सहज अनुवाद (spontaneous translation) के लिए प्रेरित करती है।

मौखिक स्तर पर अनुवाद की आवश्यकता के अलावा, लिखित स्तर पर भी अनुवाद भारत जैसे किसी भी बहुभाषिक समाज में अनिवार्य होता है। उदाहरण के लिए, भारतीय बहुभाषिक संदर्भ में अनुवाद का तो व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक, व्यावसायिक एवं शैक्षिक महत्व है। उच्च शिक्षा, अनुसंधान, प्रशासन, विज्ञान-प्रौद्योगिकी, आयुर्विज्ञान, वाणिज्य-व्यापार, विधि और न्याय, जनसंचार माध्यम, पर्यटन आदि जीवन-व्यवहार के सभी क्षेत्रों में अनुवाद की तात्कालिक आवश्यकता होती है। वैसे विभिन्न भारतीय भाषाओं के बीच आदान-प्रदान की यह प्रक्रिया सदियों से चली आ रही है। भारत की अधिकांश भाषाओं का साहित्यिक रूप अनुवाद के बल पर विकसित हुआ है। यह अनुवाद कार्य प्रायः संस्कृत से अन्य भारतीय भाषाओं में हुआ। संस्कृत के कालजयी ग्रंथों रामायण और महाभारत का देश की भिन्न-भिन्न भाषाओं में कहीं शब्दानुवाद और कहीं भावानुवाद तथा कहीं छायानुवाद आदि हुआ है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य, पुराणों, अभिज्ञानशाकुंतलम, मेघदूत आदि प्रबंध काव्य, नाट्य साहित्य आदि से सम्बन्धित संस्कृत ग्रंथों के अनेक विदेशी भाषाओं में अनुवाद हुए।

अंग्रेजी शासनकाल के दौरान, अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव में वृद्धि करने में अनुवाद ने विशिष्ट भूमिका निभाई थी। इस संदर्भ में 'ऊजड़ ग्राम', 'वेनिस का सौदागर', 'द हरमिट' का 'एकांतवासी योगी', और 'ट्रेवलर' का 'श्रांत पथिक', दुर्लभ बंधु या वंशपुर का महाजन आदि अनेक अनूदित रचनाएँ विशेष तौर पर उल्लेखनीय हैं। हालाँकि यह सही है कि खड़ी बोली हिन्दी का उद्‌भव और विकास भारतीय नवजागरण के उदय के साथ हुआ किंतु इस नवजागरण की चेतना की पृष्ठभूमि में अनुवाद की महत्वपूर्ण भूमिका रही। वस्तुतः अनुवाद की गहरी परतों ने नवजागरण की भूमि को उर्वर बनाया। इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतीय नवजागरण में संस्कृत और अंग्रेजी अनुवादों ने उल्लेखनीय भूमिका निभाई थी। अनुवाद की इस भूमिका की तुलना यूरोपीय पुनर्जागरण के संदर्भ में ग्रीक तथा लैटिन के अनुवादों से की जा सकती है। इस विषय में अगली दो इकाइयों में हम विस्तार से अध्ययन करेंगे।

भारत की जनगणना (1961) के अनुसार, यहाँ 1652 मातृभाषाएँ हैं। विश्व के किसी भी अन्य देश में शायद ही इतनी अधिक मातृभाषाएँ बोली जाती होंगी। भारत के संविधान में 22 भाषाओं को स्वीकृत करना भी भारत जैसे देश की ही एक विशेषता कही जा सकती है। इन सभी संविधान-सम्मत भाषाओं की समृद्ध-सम्पन्न साहित्यिक परम्परा है। बहुभाषिकता के व्यापक परिदृश्य के बावजूद सभी भारतीय भाषाओं के सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टिकोण में एकरूपता है, समानता है। अनुवाद बहुभाषी भारत को एक सूत्र में बाँधे रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। भारत विभिन्नता में एकता का देश है - यह एकता सहस्राब्दियों की प्राचीन परम्परा का परिणाम है। अनेकता में एकता की इस भावना को सुदृढ़ करने में अनुवाद एक महत्वपूर्ण आधार सिद्ध हुआ है। इस एकरूपता-समानता का स्पष्ट रूप से आभास हमें तब हो जाता है जब हम किसी एक भारतीय भाषा में लिखे साहित्य को पढ़ने के बाद दूसरी भारतीय भाषा के साहित्य का अध्ययन करते हैं -- उसी भाषा में या फिर अनुवाद के जरिए अपनी भाषा में। समान प्रेरणा-स्रोत, प्रतीक, इतिहास-पुरुष, जीवन-दर्शन, मूल्य, सांस्कृतिक मान्यताएँ,

चेतना, चिंतन - सब समान। तब यह सच्चाई उभरकर सामने आती है कि अनेक भाषाओं वाले इस देश का साहित्य एक है, वह मूलतः भारतीय साहित्य है -- भाषा के अंतर के अतिरिक्त और कोई अंतर नहीं है। ऐसे में भाषा का यह अंतर अनुवाद के माध्यम से दूर होता नजर आता है। अनुवाद भिन्न-भिन्न भाषाओं की आंतरिक समानता का उद्घाटन करता है। अनुवाद के जरिए जहाँ देश की सांस्कृतिक विविधता की विभिन्न छटाएँ उभरकर सामने आती हैं वहीं देश के भिन्न भाषा-भाषी एक-दूसरे के साथ और गहराई से भावात्मक रूप से जुड़ते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के साहित्यिक आदान-प्रदान से देश में भावात्मक एकता को काफी बल मिलता है। बहुभाषिक देश में अनुवाद की इस महत्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार करते हुए और देश में भावात्मक एकता को स्थापित करने के लिए केंद्रीय साहित्य अकादमी और राष्ट्रीय पुस्तक न्यास (नेशनल बुक ट्रस्ट) भारतीय भाषाओं की उत्कृष्ट रचनाओं के परस्पर अनुवाद की दिशा में काम कर रहे हैं। इसके अलावा, राज्यों की साहित्य अकादमियाँ भी अनुवाद के जरिए भारतीय साहित्य की श्रीवृद्धि कर रही हैं।

इस इकाई के भाग 8.5 में आप भारत में द्विभाषिकता सम्बन्धी वैधानिक व्यवस्था के बारे में पढ़ चुके हैं। इस व्यवस्था को बनाए रखने में अनुवाद की अपनी विशेष भूमिका है। स्वतंत्रता से पूर्व भारत में, शासन-प्रशासन के क्षेत्र में अंग्रेजी का वर्चस्व था। विज्ञान, प्रशासन, पत्रकारिता, बैंकिंग आदि विभिन्न प्रकार के क्षेत्रों में अंग्रेजी का ही चलन था और भारतीय भाषाओं का प्रयोग नगण्य था। अंग्रेजी शासनकाल से पूर्व मुस्लिम शासनकाल में उर्दू और अरबी-फारसी शासन की भाषा रही। स्वतंत्रता के समय, भारत को विरासत में जो अंग्रेजी में तैयार सांविधिक-प्रशासनिक संरचना मिली, स्वतंत्र भारत में उसी को आधार-रूप में ग्रहण कर लिया गया। किंतु हिन्दी के राजभाषा घोषित होने पर उसे हिन्दी में ढालने के अलावा अन्य कोई विकल्प शेष नहीं था। इस कार्य को अनुवाद के माध्यम से मूर्त रूप दिया गया।

भारत के संविधान में हिन्दी को संघ की एकमात्र राजभाषा के रूप में स्वीकार करने के बावजूद पंद्रह वर्ष तक अंग्रेजी प्रयोग जारी रखने की व्यवस्था ने अंग्रेजी को जो सह-राजभाषा का दर्जा दिया, वह राजभाषा अधिनियम के बनने के बाद अनिश्चितकाल के लिए स्थायी रूप धारण कर चुका है। इस व्यवस्था के आधार पर अंग्रेज़ी सह-राजभाषा बनी हुई है और हिन्दी उसकी अनुगामिनी। राज़काज चलाने में औपचारिक स्तर पर सभी क्षेत्रों में अधिकांश कार्य अंग्रेजी माध्यम से संपन्न हो रहे हैं और हिन्दी में मौलिक कार्य न्यूनतम हो रहे हैं। ऐसे में अनुवाद एक अनिवार्यता बनकर सामने आ रहा है। हालाँकि अनुवाद के जरिए प्रशासनिक सामग्री और समस्त कार्यविधि साहित्य हिन्दी में उपलब्ध हो गया है। वहीं इससे प्रशासनिक भाषा की शब्दावली और मुहावरा भी विकसित हुआ है। लेकिन, दूसरी ओर, प्रशासनिक हिन्दी का सहज विकास अवरुद्ध हो गया है, वह अनुवादाश्रित हो गई है। वास्तव में प्रशासन के क्षेत्र में द्विभाषिकता की इस स्थिति के कारण अनुवाद की आवश्यकता न केवल निरंतर बनी हुई है बल्कि समय के साथ-साथ बढ़ती भी जा रही है।

इसी तरह से यह भी वास्तविकता है कि विधि के क्षेत्र में भी अंग्रेजी का बोलबाला है। सांविधानिक और विधिक प्रावधानों के चलते भारत के उच्चतम न्यायालय और प्रत्येक उच्च न्यायालय में सभी कार्य अंग्रेज़ी में ही किए जाते हैं। वहाँ हिन्दी के दस्तावेजों के अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किए जाते हैं। जैसा कि भाग 8.6.4 में यह बताया जा चुका है कि विधि और न्याय की भाषा के विषय में संविधान में कुछ स्थितियाँ बनाई गई हैं जिनमें यह उल्लेख है कि किन दशाओं में हिन्दी का या अन्य भाषा का प्रयोग किया जा सकेगा। कहने का अभिप्राय यह है कि विधि और न्याय के क्षेत्र में आज भी द्विभाषिकता की स्थिति है।

संसद में हालाँकि भाषा का बंधन नहीं है, लेकिन संसद के अन्य भाषा-भाषियों तक बात अनुवाद के माध्यम से पहुँचती है। इसी तरह संसद की अधिकृत कार्रवाई दोनों भाषाओं में जारी होती है और उसके सभापटल पर रखे जाने वाले द्विभाषिक कागजात प्रस्तुत करने में अनुवाद का सहारा लिया जाता है। संविधान के अनुच्छेद 120 में संसद में प्रयोग की जाने वाली भाषा सम्बन्धी व्यवस्था की है। संविधान में यह प्रावधान निम्न प्रकार से किया गया है :

120. संसद में प्रयोग की जाने वाली भाषा - (1) भाग 17 में किसी बात के होते हुए भी, किन्तु अनुच्छेद 348 के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, संसद में कार्य हिन्दी में या अंग्रेज़ी में किया जाएगा :

परन्तु, यथास्थिति, राज्य सभा का सभापति या लोक सभा का अध्यक्ष अथवा उस रूप में कार्य करने वाला व्यक्ति किसी सदस्य को, जो हिन्दी में या अंग्रेजी में अपनी पर्याप्त अभिव्यक्ति नहीं कर सकता है, उसकी मातृभाषा में सदन को सम्बोधित करने की अनुज्ञा दे सकेगा।

(2) जब तक संसद विधि द्वारा अन्यथा उपबन्ध न करे तब तक इस संविधान के प्रारम्भ से पंद्रह वर्ष की अवधि की समाप्ति के पश्चात् यह अनुच्छेद ऐसे प्रभावी होगा मानो 'या अंग्रेजी में' शब्दों का उसमें से लोप कर दिया गया हो।

इस इकाई के भाग 8.5.4 में आप यह पढ़ चुके हैं कि बहुभाषिक समाज में शिक्षा भी बहुभाषिक होती है। इस परिदृश्य में अनुवाद का महत्व अपरिहार्य हो जाता है क्योंकि इस बहुभाषिकता के बीच अनुवाद के जरिए ही सम्पर्क कायम किया जाता है। शिक्षा की दृष्टि से अनुवाद का यह महत्व तो है कि वह विभिन्न देशों-समाजों के ज्ञान को अपनी भाषा में लाने का माध्यम सिद्ध होता है। इसके अलावा, दूसरी भाषा सीखने में अनुवाद को एक प्रक्रिया के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। यानी मातृभाषा के साथ द्वितीय भाषा को तुलनात्मक रूप में रखते हुए दोनों भाषाओं के बीच अनुवाद से भाषा-शिक्षण किया जाता है। वहीं विभिन्न विषयों का अध्ययन करते समय अन्य भाषा से अनूदित ज्ञान-सामग्री उत्पाद के रूप में उपयोग में लाई जाती है और उससे शिक्षा ग्रहण की जाती है। इसके साथ-साथ भारत जैसे किसी भी बहुभाषिक देश-समाज में शिक्षा माध्यम की दृष्टि से भी अनुवाद की अपरिहार्य स्थिति है। शिक्षा माध्यम का अर्थ है - शिक्षा की भाषा, अर्थात वह भाषा जिसके जरिए शिक्षा दी जाती है। हमारे यहाँ प्रारंभिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा के स्तर तक अंग्रेजी, हिन्दी और अन्य प्रमुख भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा दी जाती है। यानी अंग्रेजी, हिन्दी और विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं को शिक्षा माध्यम बनाया जाता है। ध्यान रखने की बात यह है कि अंग्रेजी माध्यम समांतर रूप से कायम रहता है, जो ब्रिटिश शासन की औपनिवेशिक विरासत की देन है। इसके चलते भारतीय भाषाओं में शिक्षा अंग्रेजी के पीछे चल रही है।

परिणामस्वरूप पाठ्य-सामग्री पहले अंग्रेजी में तैयार की जाती है और फिर उसका हिन्दी अथवा अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद कराया जाता है। इससे शिक्षा माध्यम में अनुवाद की सक्रियता बढ़ती है। वस्तुतः शिक्षा के क्षेत्र में अनुवाद का व्यापक एवं अपरिहार्य महत्व है।

जनसंचार माध्यमों में बहुभाषिकता पर विचार करते समय इस इकाई के भाग 8.5.6 में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि जनसंचार के मुद्रित और इलेक्ट्रॉनिक आदि माध्यमों में किस प्रकार बहुभाषिक परिदृश्य नज़र आता है। इस बहुभाषिक परिदृश्य में एकता का आधार अनुवाद ही होता है। जनसंचार माध्यमों की कार्य-प्रणाली में पग-पग पर अनुवाद अपनी अनिवार्यता सिद्ध करता है। संचार माध्यम न केवल देश के कोने-कोने से बल्कि विश्व के कोने-कोने से प्राप्त सूचना को लक्ष्य भाषा वर्ग तक पहुँचाने में अनुवाद का ही सहारा लेते हैं क्योंकि इनका कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत है। यह स्थानीय से शुरू होकर पूरे विश्व तक आधारित है। किंतु कोई भी संचार माध्यम अपने बूते पर समस्त विश्व तक अपनी पहुँच नहीं बना पाता। इसलिए उसे विभिन्न समाचार एजेंसियों का सहारा लेना ही पड़ता है। जनसंचार के क्षेत्र में समाचार एजेंसियों का महत्व इससे आँका जा सकता है कि इन्हें प्रसार माध्यमों की दिल की धड़कन कहा जाता है। ये स्वयं अनुवाद का सहारा लेकर समाचार तैयार कर वितरित करती हैं जिन्हें संचार माध्यम अपनी आवश्यकता के अनुसार शामिल कर लेते हैं। भारत जैसे बहुभाषा-भाषी देश में संचार माध्यम अनुवाद का संबल लेकर आगे बढ़ते हैं। वैसे इस क्षेत्र में अनुवाद साध्य न होकर साधन का काम करता है क्योंकि मूल उद्देश्य समाचार को लक्ष्य भाषा के पाठक/दर्शक/श्रोता वर्ग तक जल्दी-जल्दी पहुँचाना होता है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि भारतीय समाज की बहुभाषिकता की स्थिति अनुवाद की अपरिहार्य स्थिति तो बनाती है किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि यह अनुवाद कार्य प्रमुख रूप से एक भाषा-भाषी समाज में किए जा रहे अनुवाद कार्य से अधिक बेहतर होता है। वास्तव में यहाँ अनुवाद क्षमता का उतना बेहतर उपयोग नहीं हो पा रहा है जितना कि हो सकता है। इसका कारण यह है कि यहाँ अनुवाद की संस्थागत व्यवस्था बहुत अच्छी नहीं है। इसलिए इस दिशा में और अधिक प्रयास करने की आवश्यकता है, लोगों में अनुवाद के प्रति मनोबल ऊँचा करने की आवश्यकता है। इस आवश्यकता को महसूस करते हुए भारत सरकार ने राष्ट्रीय अनुवाद मिशन का गठन किया है।

8.7 सारांश

भारतीय समाज और बहुभाषिकता पर केंद्रित इस इकाई में आपने सबसे पहले भाषायी समाज और बहुभाषिकता के बारे में जाना। इस इकाई के अध्ययन से आपको यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि पश्चिमी देशों की तुलना में भारतीय बहुभाषिकता की स्थिति भिन्न है। यह इकाई आपको बहुभाषिकता सम्बन्धी तर्क-वितर्क के विभिन्न आयामों की जानकारी भी प्रदान करती है। ये तर्क-वितर्क बौद्धिक विकास, सर्जनात्मकता, संप्रेणात्मक संवेदनशीलता और राष्ट्रीय विकास आदि आयामों पर केंद्रित हैं। इसके पश्चात आपको बताया गया है कि भारतीय संदर्भ में द्विभाषिकता कोई कमज़ोरी न होकर इसका सशक्त पहलू है। बहुभाषिकता को भारत की नियति कहा जा सकता है। यह शताब्दियों से सहज-स्वाभाविक रूप से निरंतर चली आ रही है। इसने देश में भाषायी सहिष्णुता स्थापित की है। इस इकाई को पढ़ने से आपको यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि बहुभाषिकता के कारण अनुवाद पर अपरिहार्य रूप से निर्भरता बन जाती है। यह स्थिति भारतीय समाज में रोजमर्रा के जीवन में मौखिक स्तर पर 'सहज अनुवाद' (spontaneous translation) के लिए प्रेरित करती है। लिखित स्तर पर भी अनुवाद की स्थिति अनिवार्य है। वस्तुतः भारतीय बहुभाषिक संदर्भ में अनुवाद का तो व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक, व्यावसायिक एवं शैक्षिक महत्व है। उच्च शिक्षा, अनुसंधान, प्रशासन, विज्ञान-प्रौद्योगिकी, आयुर्विज्ञान, वाणिज्य-व्यापार, विधि और न्याय, जनसंचार माध्यम, पर्यटन आदि जीवन-व्यवहार के सभी क्षेत्रों में अनुवाद की तात्कालिक आवश्यकता होती है।

8.8 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. बहुभाषिक समाज में अनुवाद की क्या अनिवार्यता है?
2. बहुभाषिक समाज को एकता के सूत्र में बाँधने के लिए अनुवाद की किन-किन स्तरों पर जरूरत पड़ती है?
3. प्रशासन के क्षेत्र में अनुवाद की आवश्यकता पर प्रकाश डालिए।
4. विभिन्न भारतीय भाषाओं के बीच आदान-प्रदान में अनुवाद की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
5. पश्चिमी देशों की तुलना में भारत की बहुभाषिकता किस प्रकार भिन्न है? समझाइए।
6. भारत में लोक व्यवहार में बहुभाषिकता की क्या स्थिति है?

8.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- डॉ. श्रीवास्तव, रवीन्द्रनाथ, 1994; *हिन्दी भाषा का समाजशास्त्र,* नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन।
- मोहंती, ए.के., 1994; *बाइलिंग्विलिज़्म इन ए मल्टीलिंग्वल सोसाइटी,* साइको-सोशल एंड पैडोगोजिकल इम्पलीकेशन्स, मैसूर, केन्द्रीय भारतीय भाषा केन्द्र।
- अब्बी, ए. (संपा.), 1986, *स्टडीज़ इन बाइलिंग्विलज़्म,* नई दिल्ली, बाहरी पब्लिकेशन्स।
- *बेकर, सी., 2001, फाउंडेशन्स ऑफ बाइलिंग्विलिज़्म,* क्लेवडन, मल्टीलिंग्वल मैटर्स।

इकाई 9 राष्ट्र-निर्माण एवं अनुवाद के आयाम-1

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 राष्ट्र, राष्ट्रवाद और राष्ट्र-निर्माण : यूरोपीय अनुभव

9.3 संविधानवाद और राष्ट्र-निर्माण

9.4 राष्ट्रीय अस्मिता के निर्माण में राज्य के सांस्कृतिक संस्थानों और अनुवादकों के बीच परस्पर सम्बन्ध : इंग्लैंड का उदाहरण

9.5 सारांश

9.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

9.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

9.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- 'राष्ट्र' से हमारा तात्पर्य और 'राष्ट्रवाद' की परिकल्पना समझ सकेंगे;
- आधुनिक यूरोपीय परिप्रेक्ष्य में 'राष्ट्र-निर्माण' का अर्थ समझ सकेंगे;
- यूरोप में संविधानवाद और राष्ट्र-निर्माण के बीच के परस्पर सम्बन्ध को समझ सकेंगे; और
- राष्ट्रीय अस्मिता के निर्माण, विशेषकर आधुनिक इंग्लैंड के संदर्भ में देश के सांस्कृतिक संस्थानों और अनुवादकों के बीच के परस्पर सम्बन्ध के महत्व को समझ सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

यह इकाई दो भागों में विभाजित है : क) यूरोप का अनुभव और ख) भारतीय परिप्रेक्ष्य। प्रस्तुत इकाई में हम भाग (क) यूरोप के अनुभव पर चर्चा करेंगे।

इस इकाई का उद्देश्य भारत में राष्ट्रवाद का इतिहास या अनुवाद का इतिहास प्रस्तुत करना नहीं है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आपको भारत की राष्ट्रीय अस्मिता के निर्माण में लगी, और सक्रिय, विभिन्न शक्तियों का आधारभूत ज्ञान होगा। सबसे पहले हम यूरोप में राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया की जड़ों पर बात करेंगे। तत्पश्चात् ब्रिटिश साम्राज्य के सम्पर्क में आने के बाद अपनी एक राष्ट्रीय अस्मिता बनाने में प्रयासरत भारत के बहुसांस्कृतिक और बहुभाषिक परिदृश्य पर चर्चा करेंगे। अंतिम अनुभाग में हम अनुवाद की गति को प्रभावित करने वाले विभिन्न प्रोत्साहक तत्वों, मूल भावों और भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक अंतरप्रवाह का पता लगाने का प्रयास करेंगे।

विश्लेषण और समझ विकसित करने के उद्देश्य से भारत के आधुनिक इतिहास में हुए क्रांतिकारी बदलावों एवं नए उभरते द्वंद्व (डायलेक्टिक्स) को विमर्श में लाया गया है और इसके लिए 19वीं सदी पर विशेष जोर दिया गया है जिसने भारत की भावी भाषायी, पाठ्य और सांस्कृतिक संवादों की लय तय कर दी। अंतिम अनुभाग के विमर्श की मूल संरचना अनुवादकों को खोज और व्याख्या करने वालों के रूप में प्रस्तुत करने के संदर्भ में है। भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनीतिक मंथन के दौरान कई बार ऐसा हुआ है कि अनुवादकों और पाठ्य एवं विचारों के निर्वचकों के बीच की रेखा धुंधली हो गई और दोनों ने गंभीर रूप से एक दूसरे को प्रभावित किया। इसलिए अनुवाद की गति में संस्कृतियों, नीतियों और मानकों की व्याख्या की गति को ध्यान में रखना होगा और वर्तमान विमर्श उस नजरियें से भी इस विषय को समझने का प्रयास करता है।

9.2 राष्ट्र, राष्ट्रवाद और राष्ट्र-निर्माण : यूरोपीय अनुभव

'राष्ट्र-निर्माण' के विचार का अंतर्भूत सम्बन्ध राष्ट्र-राज्य और राष्ट्रवाद के विचार से है। ए. आर. देसाई के अनुसार :

> 'राष्ट्रीय समुदायों, राष्ट्रीय समाजों, राष्ट्रीय राज्यों और राष्ट्रीय संस्कृतियों के अस्तित्व में आने से पहले विश्व के विभिन्न भागों के समुदायों को सामान्यतया सामाजिक अस्तित्व के विभिन्न चरणों - जनजातीय, दास और सामंती प्रथा - से गुज़रना पड़ा। सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास के एक विशेष चरण में राष्ट्र अस्तित्व में आए। सोलहवीं सदी के बाद से मानवीय इतिहास के रंगमंच पर राष्ट्रीय संगठन के विभिन्न चरणों में राष्ट्रीय समुदायों का उदय हुआ।' (देसाई : 1982)

'एक राष्ट्र को गैर-राष्ट्र समुदाय से पृथक् करने वाले लक्षणों को रेखांकित करने के लिए देसाई, ई.एच. कार को उद्धृत करते हैं। ई.एच. कार की परिभाषा यद्यपि यूरोप-केंद्रित है और इन अर्थों में भारत को एक राष्ट्र के रूप में परिभाषित करने की कुछ समस्याएं हैं (इन समस्याओं पर हम आगे विचार करेंगे) फिर भी यह भारतीय दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है। इसमें 'राष्ट्र' को मूलतः एक सांस्कृतिक विचार के रूप में रेखांकित किया गया है जो केवल तब ठोस रूप लेता है जब उसकी एक राजनैतिक और भौगोलिक संरचना होती है जो इसे 'राज्य' बनाती है। हेवुड जैसे राजनीतिक वैज्ञानिकों का तर्क है कि राष्ट्र और राज्य की सीमाएं यथासंभव किसी विशेष भौगोलिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्र से मेल खाएं ताकि अपनी संप्रभु राष्ट्रीयता का दावा किया जा सके (हेवुडः1999)। इस अर्थ में राष्ट्र-राज्यों का उदय राष्ट्रवाद और राष्ट्र-निर्माण की भावना से होता हैं और वे इस प्रक्रिया को और प्रबल बनाते हैं, जैसा कि सुभाष कश्यप निम्नलिखित पंक्तियों में उद्धृत करते हैं :

'एक वर्तमान सम्बन्धित परिघटना। यह अवधारणा यूरोप में साकार हुई और फ्रांस एवं इंग्लैण्ड का प्रथम राष्ट्र-राज्य के रूप में उदय हुआ। बाद में उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक इटली एवं जर्मनी इस रूप में उदित हुए।' (कश्यप : 2010)

हालांकि सामाजिक दृष्टिकोण से किए गए हाल के कुछ अध्ययनों और राष्ट्रवाद की संरचना की व्याख्या ने कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों को जन्म दिया और इस तरह आधुनिक काल में राष्ट्र-राज्य और राष्ट्रवाद की अवधारणा के ऐतिहासिक विकास की हमारी समझ बढ़ी। एक अन्य महत्वपूर्ण अध्ययन में जी. एलोसियस ने इन मुद्दों को समस्या का रूप दिया ताकि किसी समाज के राष्ट्र-पश्चात् चरण को उसके राष्ट्र-पूर्व चरण से जोड़ कर देखा जा सके ताकि मानवीय समाजों के दो अभिन्न पक्षों संस्कृति और सत्ता के बीच बदलते सम्बन्ध की गति का पता लगे और उसे सही परिप्रेक्ष्य में समझा जा सके। एलोसियस कहते हैं :

> 'यदि राष्ट्र और राष्ट्रवाद का अर्थ संस्कृति और सत्ता के बीच समरूपता है तो क्या राष्ट्र-पूर्व या आधुनिक काल से पूर्व के चरण में संस्कृति अराजनीतिक थी? इस पर विद्वानों में मतभेद हो सकता है पर यह विचार सर्वथा नया नहीं है कि एक संस्कृति दूसरे के अधीन नहीं रहना चाहती है बल्कि अपनी सत्ता कायम करना चाहती है। यहां तक कि प्राचीन काल में संस्कृति एवं सत्ता के बीच मिश्रण के कुछ रूप दिखते हैं। राष्ट्र की आधुनिक परिघटना में संस्कृति और सत्ता के बीच परिवर्तनशीलता और सामाजिक बदलाव की समरूपता के एक विशेष रूप का संकेत मिलता है। राष्ट्रवाद संस्कृति-सत्ता मिश्रण के अतीत या पूर्व आधुनिक असमान सोपानिक व आरोपित स्वरूप से दूर जाने और एक समान तथा समरूप स्थिति की संरचना करने को उद्धृत दिखता है। यहाँ राष्ट्रवाद की मांग सत्ता के संस्कृति पर समान फैलाव के माध्यम से राष्ट्र में परिवर्तित होने की है।' एलोसियस आगे लिखते हैं, 'आधुनिकता में राजनीतिकरण की राष्ट्रवादी प्रक्रिया संस्कृति को उसकी संपूर्णता में अंगीकार करती है; अपने सभी सदस्यों को अधिकार और दायित्व देती है; और इस दायरे से बाहर की संस्कृतियों और लोगों से उन्हें पृथक् करती है इस तरह पुरुषों और महिलाओं के जनसमूह, जिन्हें अब तक समाज के अंदर सुविधा सम्पन्न/दायित्वपूर्ण लोगों की आरोपित सोपानिक संरचना और राजनीति में वंशानुगत शासन के माध्यम से राजनीतिक सत्ता की परिधि से परे रखा गया था, उनका समान अधिकारों व दायित्वों वाले नए राजनीतिक-नागरिक समाज की संरचना के लिए राष्ट्रवाद में राजनीतिक रूप से उदय हुआ। आधुनिक राष्ट्रवाद में संस्कृति और सत्ता के बीच समरूपता का यही विशेष स्वरूप है।' (एलोसियस : 1997)

9.3 संविधानवाद और राष्ट्र-निर्माण

समान अधिकार और दायित्व वाले नए राजनैतिक-नागरिक समाज' के साथ राष्ट्रवाद का यह पक्ष हमारे सामने संवैधानिक सुधारों का विचार प्रस्तुत करता है जैसा कि यूरोपीय राष्ट्र-राज्यों के राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया के अंतर्भूत अंग के रूप में देखा गया है। ध्यातव्य है कि यूरोपीय राष्ट्रों में राष्ट्र-राज्यों के उदय की प्रक्रिया न केवल विशेष संस्कृति और राजनीतिक समुदायों के विविध क्षेत्रों के राष्ट्र-राज्यों के रूप में एकीकरण से चिह्नित है अपितु इसके साथ-साथ प्रजातंत्र, समानता और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के सिद्धांतों पर आधारित, राज्य के विधायी, न्यायिक और अन्य राजनीतिक साधनों का पुनर्निर्माण भी इसे परिभाषित करता है।

यूरोप के नवोदित राष्ट्र-राज्य में राष्ट्रवाद के जागरण में पश्चिम की सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक क्रांतियों, उसके बाद नवजागरण और फिर 14वीं सदी से 16वीं सदी तक के धार्मिक आंदोलनों, मुख्यतः इंग्लैंड के शुद्धतावादी आंदोलन (1642), पुनर्स्थापन आंदोलन (1660) और महान क्रांति (1668), अमेरिकी स्वाधीनता संग्राम (1776), 1789 की फ्रांसीसी क्रांति, 18 वीं सदी के मध्य की औद्योगिक क्रांति आदि का समेकित प्रभाव दिखता है। संवैधानिक संरचना के साथ इस अवधि के राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया पूर्ववर्ती युगों से पृथक् हो गई जिसमें सत्तासीन सम्राट की सारी शुभेच्छाओं और प्रयासों के बावजूद जनसामान्य की स्पष्ट भागीदारी नहीं थी और एक राष्ट्रीय सहमति और चेतना का अभाव था। संवैधानिक संरचना में एक कानून, एक राष्ट्रगान, एक राष्ट्रीय ध्वज, एक सेना अस्तित्व में आई और अन्य बातों के अलावा इसने एक राष्ट्रीय संप्रभुता को रेखांकित कर दिया था।

इस संदर्भ में उदाहरणस्वरूप तथा एक सम्राट के अधीन सामाजिक निर्माण के प्रयासों के प्रतिनिधि के तौर पर रूस के सम्राट पीटर महान (1689-1725) के महती प्रयास देखने लायक हैं। लोग मानते हैं कि छत्तीस साल के उनके शासन ने एक नए युग का निर्माण किया। उन्होंने राष्ट्रीय जीवन के सभी पहलुओं पर निजी तौर पर निरंतर ध्यान दिया और रूस के 'यूरोपीकरण' पर तो विशेष जोर दिया। सेंट पीटर्सबर्ग के संस्थापक पीटर महान ने 17वीं सदी के अंतिम दशक और 18वीं सदी के पहले दो दशकों में रूस के लिए जो काम किया है, हैजेन ने उसका चित्रात्मक और अद्‌भुत विवरण किया है :

'उन्होंने रूस के सर्वश्रेष्ठ परिवारों के पचास युवकों को पाश्चात्य कला और विज्ञान सीखने, विशेष कर जहाज और किला बनाने का ज्ञान हासिल करने इंग्लैंड, हॉलैंड और वेनिस भेजा। बाद में वे खुद उसी उद्देश्य से गए - उस सभ्यता के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए, जिसे वे श्रेष्ठ मानते थे और जिसे, यदि संभव होता, अपने देश पर लागू करना चाहते थे। यह एक मशहूर जहाज यात्रा थी। 'पीटर मिकाइलोविच' के नाम से एक मजदूर के भेस में महान सम्राट महीनों हॉलैंड और इंग्लैंड के शिपयार्ड में काम करते रहे। वे सब कुछ जानना चाहते थे। वे हर प्रकार की मिलों और कल-कारखानों में जाते और अनगिनत सवाल पूछते : *'इसका क्या काम है? यह कैसे काम करता है? उन्होंने अपने हाथों से एक कागज तैयार किया। मनोरंजन के समय वे म्युजियम, नाट्यशाला, अस्पताल, गैलरी देखने जाते। उन्होंने छापेखानों का काम-काज देखा, शरीर संरचना विज्ञान पर व्याख्यान सुने, शल्य चिकित्सा का थोड़ा बहुत ज्ञान हासिल करने के साथ-साथ यहां तक कि आराम से दांत निकालने की उपयोगी कला में कुशल हो गए व अपने साथ कानून की किताबें, सभी प्रकार की मशीनों के मॉडल लेकर आए तथा हर प्रकार के अधिकारियों, मैकेनिकों, प्रिंटरों, नाविकों और कार्य कुशल लोगों को मनाया कि वे रूस चल कर एक ऐसे राष्ट्र को अपने-अपने क्षेत्र में दिशा दें जिसे पीटर की राय में इसकी जरूरत है और मिलनी चाहिए, चाहे जैसे भी हो।'*
(हैजेन : 1987)

उपरोक्त वक्तव्य में इटैलिक्स में दिए गए वाक्य सचमुच किसी समाज में राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया और उससे हमारे तात्पर्य का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। हालांकि ऊपर के अनुच्छेद की दूसरी पंक्ति और अंतिम पंक्ति के शब्द - पीटर की राय में - उभर कर सामने आते हैं क्योंकि ये पीटर महान के रूस निर्माण के महान प्रयासों को दर्शाते हैं और किसी समाज पर शासन के एक सम्राट के तथाकथित दैविक अधिकारों पर सवालिया निशान लगाने के अनुरूप नहीं हैं। आगे चलकर आधुनिक राष्ट्र-राज्यों में आंतरिक और गंभीर सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक वाद-विवादों के माध्यम से ये सवाल उठे।

18 वीं सदी के उत्तरार्द्ध और 19 वीं सदी के दौरान यूरोप के राष्ट्रों में राष्ट्रवाद के उदय के साथ एक सामान्य लक्षण यह दिखा कि राष्ट्र-निर्माण के सारे प्रयासों के केन्द्र में जनता थी न कि सम्राट को केन्द्र में रखा गया था। एलोसियस ने इस बिन्दु को एक सैद्धांतिक स्वरूप दिया। इटली में जोसफ मेजीनी (1805-1827) और गिसेप गैरीबाल्डी (1807-1882) जैसे राजनेताओं ने इटली की स्वाधीनता (पहले फ्रांसीसी शासन और अंत में आस्ट्रेलिया के नियंत्रण से आजादी) की लड़ाई में एक आजाद, आत्मनिर्भर और गणतंत्र इटली की स्थापना को अपने राष्ट्र-निर्माण के प्रयास का अभिन्न हिस्सा बनाया। दूसरी ओर जर्मनी में जब ओटो वॉन बिस्मार्क-स्कोलेहाउसेन (1815-1898) जैसे राजनेताओं ने एकीकरण और राष्ट्र-निर्माण के प्रयास में सही अर्थों में जनता को केन्द्र में नहीं रखा तो उन्हें जर्मनी के नए स्वतंत्र राष्ट्र-राज्य में समाजवादी आंदोलन का सामना करना पड़ा जिसके परिणामस्वरूप अंततः एक संवैधानिक और प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था (जनता की चुनी सरकार) बनी जो कि जर्मनी में राष्ट्र-निर्माण के प्रयासों की अंतिम परिणति थी।

इसी तरह 18वीं और 19वीं सदियों में आधुनिक फ्रांस का इतिहास विभिन्न गणराज्यों की स्थापना और संवैधानिक संरचना का पर्याय बना है। इन प्रयासों के पीछे जनता को केन्द्र में रख कर राजनीतिक व्यवस्था कायम करने का उद्देश्य था ताकि राष्ट्र-निर्माण का कार्य परिलक्षित और स्थायी हो। अंततः यूरोपीय देशों में सर्वप्रथम प्रजातंत्र अपनाने वाले इंग्लैंड में संवैधानिक राजतंत्र में 18वीं और 19वीं सदियों में औद्योगिक क्रांति के दुष्परिणामों और लाभों के आलोक में व्यापक सुधार हुआ। इतना ही नहीं, 17वीं सदी के उत्तरार्द्ध से ही, पुनर्स्थापन के पश्चात् सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक नैतिकता की अंग्रेजी संवेदना में पुनर्स्थापन-पूर्व और एलिजाबेथ के काल की तुलना में आमूल परिवर्तन हुए। हैजेन के अनुसार :

'यह राष्ट्रीय जीवन में असंख्य और महत्वपूर्ण परिवर्तनों का काल था। संसद में जनता का प्रतिनिधित्व बढ़ा था, मताधिकार का दायरा बढ़ गया था और बहुत-से आर्थिक विधेयक पारित हुए जिनकी संरचना ऐसी थी कि परिश्रम करने वाले विभिन्न वर्गों की स्थिति में सुधार हो।' (हैजेन : 1987)

यहां उल्लेखनीय है कि जनता को केन्द्र में रख कर बने संविधान में धर्म को राज्य से पृथक् करने की बात अंतर्निहित है। हालांकि इसकी प्रक्रिया बहुत लंबी और जटिल रही और अंततः एक वस्तुनिष्ठ एवं नियम आधारित राष्ट्र का निर्माण हुआ जिसका उद्देश्य वर्ग, धर्म, नस्ल और लिंग के भेदभाव के बिना सभी की सेवा है। इस संदर्भ में शिवानी किंकर चौबे एक तर्कसंगत बिंदु उठाती हैं :

'संविधानवाद में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि कोई संविधान आसमान से नहीं टपकता। यह दैविक देन भी नहीं है। यह किसी दयालु राजा की देन भी नहीं है क्योंकि कोई शासक अपनी शक्ति नहीं कम करना चाहेगा। किसी संविधान की संरचना जनता की इच्छा से होगी या किसी शासक से संघर्ष के बाद। इसका विकास जनता के अनुभव और आकांक्षा के आधार पर होता है।' (चौबे : 2009)

अतः 18वीं और 19वीं सदियों में यूरोप के राष्ट्र-राज्य के निर्माण और उनके राष्ट्रवाद और राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रियाओं में इसी भावना की पूर्ण अभिव्यक्ति दिखती है।

9.4 राष्ट्रीय अस्मिता के निर्माण में राज्य के सांस्कृतिक संस्थानों और अनुवादकों के बीच परस्पर सम्बन्ध : इंग्लैंड का उदाहरण

हालांकि यदि हम सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक और राजनीतिक विचारकों और समाज विशेष के आलोचकों द्वारा मुख्यधाराओं पर दिए गए वैकल्पिक आदर्शों, आलोचनाओं, मूल्यांकनों और उनके विचारों पर ध्यान नहीं देते हैं तो हम एक प्रजातांत्रिक प्रक्रिया के रूप में राष्ट्र-निर्माण के एक अहम् अवयव से अछूते रह जाएंगे क्योंकि इसके बिना एक आधुनिक और आत्मविश्लेषी व्यवस्था कायम नहीं की जा सकती है। राष्ट्र-निर्माण प्रक्रिया के प्रति एक साधारण राय और एक साधारण समझ बनाने में जितना इस प्रक्रिया से, उतना ही राष्ट्र के प्रयासों से भी योगदान मिलता है। इतना ही नहीं, सामाजिक और राजनीतिक 'संगठन' की तरह ही भाषा और व्याकरण के मानकीकरण द्वारा 'संगठन' का, और साहित्यिक रचनाओं के माध्यम से निजी और सामुदायिक पहचान कायम करने और समझने, स्थानीय या देशी समझ से वैश्विक दृष्टिकोण का विकास, सभी सही मायनों में राष्ट्र-निर्माण के समांतर,

अभिन्न और अनिवार्य पहलू हैं - विशेष कर इस आधुनिक समय में जब अनुवाद की भूमिका जाने-अनजाने अहम् और दूरगामी प्रभाव की है जो मोटे तौर पर नजर नहीं आती।

मिसाल के तौर पर, और भारतीय संदर्भ में इस प्रक्रिया को समझने के लिए इस विमर्श के अगले भाग में हम सत्रहवीं सदी के मध्य में इंग्लैंड में शुरू हुई राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया पर वापस आएंगे और इसमें सांस्कृतिक और साहित्यिक विमर्श की भूमिका पर विचार करेंगे। इंग्लैंड में राष्ट्र-निर्माण के संदर्भ में उत्तर पुनर्स्थापन काल (1660), ऐतिहासिक रूप से राजनीतिक और धार्मिक उथल-पुथल के काल में इसने 'आधुनिक युग' का सूत्रपात किया और अंग्रेजी भाषा और साहित्य के विकास में सामाजिक-आर्थिक बदलावों के समांतर और क्रांतिकारी के साथ-साथ राष्ट्रवादी लहरें भी देखी गईं। लेगियस और कजामियां ने इसे सही अर्थों में प्रस्तुत किया है :

'राजनीतिक दृष्टिकोण से अंग्रेजी राष्ट्र का आधुनिक विकास 1688 से शुरू हुआ। लेकिन नैतिक और साहित्यिक क्रम में यह तिथि 1660 की है। इसके बाद से हवाई किले बनाने की आकांक्षा और किशोरवय की भूलों का युग नहीं रहा। प्रयोगाश्रय ने सचेत नियम के रूप में इसके अस्तित्व को प्रभावित किया और इसी में अंग्रेजों की मेधा का सबसे समीचीन चरित्र चित्रण होता है। 1660 में एक नए समाज और एक नए साहित्य का सृजन होता है पुनर्स्थापन का अंग्रेजी आत्मा के एक सबसे उल्लेखनीय बदलाव से समामेलन होता है।' (लेगियस : 1981)

यह कहा जा सकता है कि उत्तर पुनर्स्थापन काल में अंग्रेजी समाज, वैज्ञानिक और सुनियोजित शैली में राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में जुट गया। नवजागरण के रोमांटिक रुझान के चलते वर्तमान की सभी आस्थाओं पर सवालिया निशान लगाने वाले नए दर्शन के मेटाफिजिकल कवि जॉन डन (1572-1631) के बदले जॉन लॉक (1632-1704) सरीखे दार्शनिकों के गंभीर, व्यावहारिक और प्रयोगाश्रित विचारों का मार्ग प्रशस्त हुआ।

यह वह कालखंड था जब राज्य द्वारा गठित संस्थानों और सृजनशील विचारकों ने परस्पर तालमेल से जाने-अनजाने राष्ट्र-निर्माण का काम किया। यूरोप के विभिन्न भागों में हुए इन प्रयासों को दर्शाने के लिए यहां रॉयल सोसायटी और जॉन ड्राइडन के उदाहरण दिए जा सकते हैं। ये प्रयास आधुनिक युग में राष्ट्रीय अस्मिता निर्मित करने और उसे सुदृढ़ करने के उद्देश्य से किए गए।

रॉयल सोसायटी जैसे संस्थान ने पुनर्स्थापन-पश्चात् के आधुनिक इंग्लैंड में राष्ट्रवादी दृष्टिकोण से ज्ञान सृजन का औपचारिक और व्यावहारिक रास्ता अपनाया। 1645 से ही अनौपचारिक रूप से कायम रॉयल सोसायटी का अंततः 1662 में रॉयल सोसायटी के रूप में एक चार्टर के साथ औपचारिक गठन हुआ। डेविड डाइचेज़ ने रॉयल सोसायटी के जो उद्देश्य बताए वे सामाजिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक संरचना की एक सुनियोजित वास्तु योजना लगती है:

'(द रॉयल सोसायटी) का मुख्य उद्देश्य व्यावहारिक वैज्ञानिक प्रयोग करना था। इसकी विभिन्न समितियां गणित, ज्योतिश, प्रकाश विज्ञान, रसायन, कृषि आदि विषयों से सम्बद्ध थीं। सोसायटी का व्यापार, भूगोल, जहाज निर्माण, वास्तु कला, हाइड्रॉलिक्स, और इतिहास जैसे विषयों में भी हस्तक्षेप था। सोसायटी की कृति 'फिलॉसॉफिकल ट्रांजेक्शंस' का प्रकाशन 1665 से आरंभ हो गया और इसका उद्देश्य 'मौलिक उपक्रमों, अध्ययनों और परिश्रमों को विश्व के कई अहम् भागों' में सार्वजनिक करना था। अपने सदस्यों से सोसायटी की अपील थी कि वे 'एक विदूषक या विद्वान से पृथक् सीधी-सपाट और स्वाभाविक भाषा में बात करें, सकारात्मक अभिव्यक्ति दें, स्पष्टता रखें, स्थानीय लोगों की तरह सुलभ भाषा का प्रयोग करें, यथासंभव दो और दो चार कहने का प्रयास करें और एक शिल्पी, एक देहाती और एक सौदागर की तरह बात करें।

रॉयल सोसायटी में वैज्ञानिक, कैवेलियर, नागरिक और लेखन के पेशे में लगे लोग मिलते और उनकी गतिविधियों में चार्ल्स द्वितीय भी अभिरुचि लेते। सोसायटी के सदस्यों में रॉबर्ट ब्वॉयल और आइज़ाक न्यूटन ही नहीं बल्कि जॉन ड्राइडन, जॉन एवलीन और सैमुअल पेपीज़ भी शामिल थे।' (डाइचेस : 1979)

आधुनिक अंग्रेजी गद्य के विकास में रॉयल सोसायटी के घोषणा पत्र में उल्लिखित सरलता और स्पष्टता के प्रभाव को दूर-दूर तक और व्यापक रूप में इतिहासकारों ने माना है और डेविड डाइचेज़ ने तो यहां तक कह दिया कि:

'आज वैज्ञानिक या दार्शनिक विषयों पर सर टॉमस ब्राउन, और बिशप स्प्रैट की 'हिस्ट्री ऑफ द रॉयल सोसायटी' (1667) की शैली में कोई भी विमर्श नहीं कर सकता है। दोनों ने सरल भाषा में गद्य शैली के उदाहरण दिए हैं

और इसी शैली की अनुशंसा की है जो कि विभिन्न रूपों में काउली के निबंधों, जॉर्ज सेवाई और मार्किज़ ऑफ हैलीफैक्स के विविध आलेखों, आर्कबिशप तिलोत्सन के उपदेशों और ड्राइडन के निबंधों में दिखती है'। (लेगियस : 1979)

रॉयल सोसायटी के काम को राष्ट्र-निर्माण के सबसे आरंभिक रूप में देखा जा सकता है जिसका उद्देश्य राज्य के हस्तक्षेप के माध्यम से विविध विषयों पर राष्ट्रीय विमर्श को एक स्वरूप और दिशा देना था। रॉयल सोसायटी ने जो सरलता और बोलचाल की भाषा के प्रयोग का विचार प्रस्तुत किया उसका व्यापक प्रभाव अनुवादकों के मन-मस्तिष्क पर भी पड़ा।

इस परिदृश्य में जॉन ड्राइडन (1631-1700) के काम और योगदान को लेगोयस और कजामियां के शब्दों में प्रायः 'एक अंग्रेज के अंतर्मन में सबसे उल्लेखनीय परिवर्तन' का सबसे अच्छा उदाहरण कहा जा सकता है। तत्कालीन इंग्लैंड की एक राष्ट्रीय मनोदशा बनाने और उसे अभिव्यक्त करने के लिए ड्राइडेन ने जिन विषयों, मुहावरों और अभीष्टों को चुना उससे यह तथ्य स्पष्ट होता है और ड्राइडेन की कविताओं, नाटकों, आलोचनाओं आदि में उनका प्रयोग ऐतिहासिक महत्व का है। पाठों के अनुवाद के प्रति उनके दृष्टिकोण पर नजर डालने से पहले यह सुझाव दिया जाता है कि उनकी आलोचना को देखें जिसमें उनकी कृतियों और अनुवादों में भी राष्ट्रीय दृष्टिकोण दिखता है।

एक राष्ट्र में अपनी अस्मिता, सांस्कृतिक और साहित्यिक फलक तलाशने की जो उत्कंठा होती है उसका किसी साहित्यिक विमर्श के लिए विषयों के चयन पर किस तरह प्रभाव पड़ता है इसका उदाहरण वह प्रत्यक्ष कारण है जिसने जॉन ड्राइडेन को अपनी सबसे महत्वपूर्ण आलोचनात्मक कृति 'ऐन ऐसे ऑफ ड्रामैटिक पोएसी' (1668) लिखने को उद्यत किया। विलियम के. विमसैट जूनियर और क्लींथ ब्रुक्स ने इस बात को रेखांकित किया है कि किस तरह एक फ्रांसीसी लेखक सैमुअल सॉब्रियरे की कृति 'वॉयेजेज़' ने पहली बार रॉयल सोसायटी के इतिहासकार टॉमस स्प्रैट को प्रत्युत्तर देने को उद्यत किया और कालांतर में ड्राइडेन को 'ऐन ऐसे ऑफ ड्रामैटिक पोएसी' लिखने को। उल्लेखनीय है कि अपनी पुस्तक में सॉब्रियरे ने 'अंग्रेजी विज्ञान और अंग्रेजी मंच कला के प्रति बहुत आपत्तिजनक टिप्पणी की थी। 'पाठकों के नाम' टिप्पणी की आरंभिक पंक्तियों में स्पष्ट उल्लेख है कि मूलतः साहित्यिक और फिर आलोचनात्मक इस लेखन के पीछे राष्ट्रवादी उद्देश्य हैं।

इस निबंध में ड्राइडेन एक निएंडर, 'नया मानव', नामक एक चरित्र, के रूप में फ्रांसीसी के आगे यह कहते हुए अंग्रेजों की वकालत करते हैं कि अंग्रेजी पद्य की 'जीवंतता' फ्रेंच की 'निष्ठुर औपचारिकता' से कहीं बेहतर है। विमसैट और ब्रुक्स के शब्दों में कहे तो पूरे निबंध में, जहां तक ड्राइडेन निएंडर के माध्यम से अपना पक्ष रखते हैं, अंग्रेजी नाट्यकारों शेक्सपीयर, बोमोंट, फ्लेचर और बेन जॉनसॉन को क्लासिक कवियों के समकक्ष रखते हुए साहित्यिक जीनियस के उच्चतम पद पर आसीन करते हैं वह 'राष्ट्रीय स्वाभिमान' के सबसे सुनहरे पलों में से एक है। निबंध से उद्धृत है :

शेक्सपीयर हमारे होमर थे अथवा हमारे नाट्य कवियों के जनक : जॉनसॉन वर्जिल थे, विद्वत लेखन शैली के पुरोधा, मैं उनका प्रशंसक हूं पर शेक्सपीयर की पूजा करता हूँ। (डाइचेज़ : 1979)

यह कहा जा सकता है कि जब ड्राइडेन जैसा क्लासिस्ट, प्रशिक्षण और दृष्टिकोण से क्लासिस्ट रहे बेन जॉनसॉन से पृथक् शेक्सपीयर की ओर झुक जाता है तो वे (ड्राइडेन) शेक्सपीयर के प्रति राष्ट्रीय अवधारणा के सुर से सुर मिला रहे थे। अवधारणा यह थी कि शेक्सपीयर थिएटर प्रेमी जनता में आसानी से समझे गए और लोकप्रिय रहे। 'ऐन ऐसे ऑफ ड्रामाटिक पोएसी' लिखने के तत्काल कारणों और उद्देश्यों पर विचार करते हुए हम कह सकते हैं कि इस निबंध ने देश की संस्कृति और राजनीतिक संवाद में अपना अनोखा स्थान कायम रखा है। कथित निबंध में 'अंग्रेजी लेखकों के सम्मान के रक्षार्थ' कवि की मंशा प्रमुख अंग्रेजी-बनाम-फ्रांसीसी नाट्यकारों की साहित्यिक उपलब्धियों का सही चित्रण प्रस्तुत करने की है।

यह राष्ट्रीय भावना ड्राइडेन के अनुवादों में भी दिखती है। बतौर अनुवादक उन्होंने 1694 में अपनी सबसे महत्वाकांक्षी और महत्वपूर्ण कृति 'द वर्क्स ऑफ वर्जिल' 1697 में प्रस्तुत की जिसका प्रकाशन सबस्क्रिप्शन से किया गया। वर्जिल के अनुवाद का प्रकाशन एक राष्ट्रीय परिघटना थी क्योंकि ड्राइडेन ने इस अनुवाद को

समकालीन राजनीतिक आलोचना का माध्यम बनाया। ड्राइडेन द्वारा अनूदित वर्जिल के एनियड को कविता की सामान्य पुस्तकों में व्यापक तौर पर उद्धृत किया गया और इसने अठारहवीं सदी की साहित्यिक अभिरुचि को स्वरूप दिया।

इस बारीक चलन के परिणामस्वरूप, व्यक्तिगत सर्जनात्मक कार्य के साथ उसके सामाजिक या राष्ट्रीय दायित्वों के बीच परस्पर सम्बन्ध ही वह कारण है जिसके चलते अपने कॅरियर के अंतिम चरण में ड्राइडेन ने चॉसर का रुख किया - उनकी कृतियों का अनुवाद किया। ड्राइडेन की मृत्यु के वर्ष 1700 में प्रकाशित उनकी कृति 'प्रीफेस टू फेबल्स' में चॉसर के अलावा इतालवी कवि बोकासियो के अनुवाद भी हैं। ड्राइडेन ने चॉसर को सर्वश्रेष्ठ क्लासिकल कवियों की श्रेणी में स्थान दिया जो कि राष्ट्रवाद की भावना से अनुप्राणित लगता है :

'सबसे पहले, मैं अंग्रेजी कविता के पिता को वही सम्मान देता हूं जो ग्रीस के लोग होमर को या रोमवासी वर्जिल को देते हैं। वे अच्छे ज्ञान-विवेक के अक्षय स्रोत हैं; सभी विज्ञानों में विद्वताप्राप्त हैं; और इसलिए सभी विषयों पर समुचित बोलते हैं। चूँकि वे जानते हैं कि क्या कहना है, इसलिए वे यह भी जानते हैं कब चुप्पी साधने का समय है; यह एक ब्रह्मचर्य है जिसका बहुत कम लेखक पालन करते हैं और प्राचीन काल में तो वर्जिल और होरेस के सिवाय शायद कोई नहीं।' (ब्रूक्स : 1957)

होमर, वर्जिल, ओविड, आदि क्लासिकल लेखकों की रचनाओं को बोधगम्य बनाने के बेहतर माध्यम तलाशने वाले किसी कवि के लिए चॉसर पर ध्यान केंद्रित करना एक बड़ी ऐतिहासिक और साहित्यिक परिघटना थी। ड्राइडेन ने क्लासिसिस्ट की 'नकल' की मान्यता से प्रभावित रहते हुए कथित लेखकों की रचनाओं का अनुवाद किया और उन्हें समकालीन अभिरुचि के अनुकूल बनाया। उनके प्रयास में राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया के तहत एक स्थानीय क्लासिकल कवि के पुनर्वास का पुट था। इतना ही नहीं, जैसा कि डेविड डाइचेज़ का कहना है, ड्राइडेन ने अंग्रेजी भाषा को सशक्त करने के उद्देश्य से क्लासिकल कवियों के साथ-साथ चॉसर की रचनाओं का भी अनुवाद प्रयोग किया। ड्राइडेन इस भाषा को सचमुच अनुप्राणित करना चाहते थे जो कि इसकी अपनी पहचान के लिए जरूरी था और इतालवी और फ्रेंच के अलावा लैटिन और ग्रीक के क्लासिकल स्रोतों की छत्रछाया से निकलने के लिए भी।

वास्तव में पुनर्स्थापन-पश्चात् के स्वर्णिम काल में आधुनिक बनाम क्लासिकल, स्थानीय बनाम विदेशी के बीच विमर्श में ड्राइडेन हमेशा एक संतुलन कायम करने में कामयाब रहे। प्रशिक्षण से क्लासिकल और ऑगस्टन होने के बावजूद उनका झुकाव कई बार उस पर था जो सुपरिचित और जमीन से उपजा था जो कि अपने सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य पर आधारित तर्क का परिचायक था। इस संदर्भ में मोना बेकर और गैब्रिएला सल्दाना का यह अवलोकन महत्वपूर्ण है:

'ड्राइडेन की रचनाओं में अनुवाद के अलग-अलग चलनों का विन्यास है साथ ही 'देशीकरण' और 'विदेशीकरण' दोनों के तत्व हैं। यह भी दिखाया गया है कि इनकी श्रेणियां कैसे बदलती हैं। उन्होंने पूर्व के अनुवादों का उपयोग किया, अपने पूर्ववर्ती स्पेंसर, शेक्सपीयर और मिल्टन की भाषा को आत्मसात किया, खुद क्लासिकल हो गए, और इस तरह अनुवाद और साहित्य दोनों के चलन और शृंगार को प्रभावित किया। दोनों के बीच की दीवार को और पारगामी बना दिया।' (बेकर : 1998)

इस दृष्टिकोण से वे सही मायनों में उत्तर पुनर्स्थापन काल के प्रतिनिधि हैं जिसके बारे में लेगियस और कजामिया ने बताया कि, 'यह अपने पूर्ववर्ती के सापेक्ष अपना अस्तित्व निर्धारित करता है पर अन्य सभी पहलुओं में यह भविष्य उन्मुख है जिधर इसका झुकाव भी है।' (कजामिया:1981) टी एस इलियट द्वारा पूरी समझ के साथ की गई टिप्पणी ड्राइडेन के बारे में सैमुएल जॉनसन की टिप्पणी का समर्थन है जिसमें जॉनसन ने 'ड्राइडेन को अंग्रेजी आलोचना का जनक' कहा है। इलियट की यह टिप्पणी अंग्रेजी पहचान की समझ और उसके बनने और अभिव्यक्ति का भी परिचायक है।' इलियट कहते हैं :

'आलोचना में ड्राइडेन के काम की महानता यह है कि वे सही समय पर साहित्य में देशी तत्वों पर जोर देने की अहमियत के प्रति सचेत हो गए। उन्होंने अपने नाटकों में पूर्ववर्ती रचनाकारों से अधिक अंग्रेजियत रखने की चेष्टा

की। नाटक और अनुवाद कला पर उनके निबंध अंग्रेजी नाटक और अंग्रेजी भाषा की प्रकृति को समझने का सचेत प्रयास थे। ड्राइडेन द्वारा चॉसर के अनुकूलन में भी देशी परम्परा पर जोर दिखता है न कि वह जो कि कभी-कभी समझा गया यानि चॉसर की भाषा और पद के लालित्य को समझने में उनकी घोर असफलता जो अचरज में डालती है। एलिजाबेथ कालीन आलोचक अधिकतर विदेश से कुछ लेने या एडेप्ट करने के प्रति जागरूक रहे जबकि ड्राइडेन देशी तत्वों के संरक्षण के प्रति सतर्क रहे।' (इलियट : 1932)

इसलिए सैमुअल जॉनसन का ड्राइडेन के बारे में यह कथन कि अंग्रेजी भाषा उन्हें 'ईंट के रूप में मिली जिसे उन्होंने संगमरमर बनाया', ड्राइडेन की मेधा को श्रद्धांजलि मात्र नहीं है बल्कि राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में ड्राइडेन के योगदान को स्पष्टतः रेखांकित करता है। कहना न होगा, कि अंग्रेजी भाषा का परिपक्व होना इस प्रक्रिया का एक सबल और अभिन्न अंग रहा। ड्राइडेन ने अपने दृष्टिकोण से अंग्रेजों को जता दिया कि शेक्सपीयर देश में नाट्य कविता के जनक थे, चॉसर अंग्रेजी कविता के तो ड्राइडेन अंग्रेजी आलोचना और गद्य के जनक बन गए। ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों के जनक का यह अन्वेषण राष्ट्रवाद के आरंभिक चरणों का अभिन्न पहलू रहा है और ड्राइडेन ने अपने दृष्टिकोण से राष्ट्र-निर्माण के लिए आवश्यक ऐसे पितृ तत्वों को खोज निकाला और खुद भी पितृतत्व हो गए। इस दृष्टिकोण से ड्राइडेन कवियों, लेखकों, विचारकों, आलोचकों और अनुवादकों की लंबी सूची में शामिल एलेक्जेंडर पोप, सैमुअल जॉनसन, विलियम ब्लेक, एस टी कॉलरिज़, विलियम वर्ड्सवर्थ, शेली, टेनीसन, डिकेंस, कार्लाइल आदि के पूर्ववर्ती साबित हुए जिन्होंने अपनी रचनाओं से ऐसी विविध धाराओं की आलोचना की, उन्हें दिशा दी जो इंग्लैंड के आधुनिक राष्ट्र बनने में शामिल हुए और साथ ही, अलग-अलग काल में अंग्रेजी साहित्य आंदोलन के जनक बने।

हालांकि इकाई 10 में हम भारतीय परिप्रेक्ष्य में आएंगे तो देखेंगे कि यहां राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया दो अहम् अर्थों में यूरोप के हमारे अनुभव से भिन्न हैं : क) भारत की बहु-भाषिक और बहु-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, और ख) भारत में उपनिवेशवाद का विचित्र अनुभव। दोनों के लिए सतत् ऐसे व्याख्याताओं की मांग बनी रहेगी जो राष्ट्र की पहचान की परिभाषा, पुनः परिभाषा कर सकें और आत्मसात कर सकें।

9.5 सारांश

जैसा कि ऊपर चर्चा की जा चुकी है कि यह विषय दो भागों में विभाजित है। प्रस्तुत इकाई अर्थात् इकाई 9 में राष्ट्र-निर्माण के यूरोपीय अनुभव पर विस्तार से अध्ययन किया जिसके माध्यम से आपने जाना कि राष्ट्र क्या है तथा राष्ट्रवाद की अवधारणा की शुरुआत कैसे हुई। आपने जाना कि यूरोप के लगभग सभी राष्ट्रों में जब राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया शुरू हुई तब सबके केन्द्र में धर्म न होकर आम जनता और उसकी मूलभूत आवश्यकताएं थीं। तथा जिन राष्ट्रों ने प्रारम्भ में जनता के हितों को महत्व नहीं दिया उन्हें अंततः आम जन की चिंता को केन्द्रीयता देना अनिवार्य हो गया। इकाई के अंत में इस ओर भी संकेत किया गया है कि भारत के राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण बिन्दु क्या रहे किंतु इस बात से यहां भी इनकार नहीं किया जा सकता कि यहां भी राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में धर्म के स्थान पर आम जन और उनकी चिंता ही केन्द्र में रही। आपने यह भी जाना कि विभिन्न यूरोपीय देशों में राष्ट्रवाद के उद्भव में किन चिन्तकों, साहित्यकारों की भूमिका रही तथा उसके विस्तार के क्रम में अनुवाद ने क्या महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इकाई 10 में हम भारतीय परिप्रेक्ष्य में राष्ट्र-निर्माण तथा अनुवाद की महत्वपूर्ण भूमिका पर विस्तार से चर्चा करेंगे जिसमें हम यह देखेंगे कि यूरोपीय देशों तथा उसके साहित्य के माध्यम से भारत ने क्या सीखा तथा उपरोक्त दोनों बिन्दुओं - उपनिवेशवाद, अंग्रेजी तथा भारत की बहुभाषिक, बहुसांस्कृतिक पृष्ठभूमि की इसमें क्या भूमिका रही।

9.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. राष्ट्र-निर्माण में संविधान के महत्त्व एवं इसकी भूमिका पर प्रकाश डालिए।
2. 'राष्ट्र' को परिभाषित कीजिए तथा राष्ट्र-निर्माण के मुख्य कारकों को रेखांकित कीजिए।
3. 17वीं शताब्दी इंग्लैंड में स्थापित रॉयल सोसायटी का राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में क्या योगदान था?

4. लोक आधारित संविधान से आप क्या समझते हैं?
5. 'राष्ट्रीय अस्मिता के निर्माण में अनुवाद की महती भूमिका है।' इंग्लैंड के संदर्भ में इस तत्य पर प्रकाश डालिए।
6. वे कौन से महत्त्वपूर्ण रचनाकार थे, जो अंग्रेजी साहित्य आंदोलन के जनक बने, विस्तार से वर्णन कीजिए।

9.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- Desai, A.R., Reprint 1982: *Social Background of Indian Nationalism*, Bombay, Popular Prakashan, First Edition 1948.
- Heywood, Andrew, 1999: *Political Theory: An Introduction* (Second ed), London: Macmillan Press.
- Kashyap, Subhash C., Reprinted 2010: *Our Political System,* Delhi, National Book Trust, India, First Edition 2008.
- Aloysius,G.,1997: *Nationalism Without a Nation in India,* New Delhi, Oxford University Press.
- Hazen, Charles Downer (with additional 10 chapters by V D Mahajan),Sixth Edition, 1987: *Modern Europe (1789 Onwards)*, Published in India by S. Chand & Company by arrangement with M/s Henry Holt & Co., New York, First Published in India, 1956, New Delhi.
- Chaube,Shibani Kinkar, 2009: *The Making and Working of the Indian Constitution,* New Delhi., National Book Trust, India.
- Legouis,Emile and Louis Cazamian & Raymond Las Vergnas (Book VIII), First Indian Edition 1981: *History of English Literature*, (Translated from the French by Helen Douglas Irvine), Madras, Macmillan India Limited.
- Daiches,David, First Indian Reprint 1979: *A Critical History of English Literature* (Vol. III), In Four Volumes, New Delhi, Allied Publishers Private Limited, (First Published by Martin & Warburg Ltd, London, 1960).
- Brooks, Cleanth and William K Wimsatt Jr., First published by Alfred A. Knopf. Inc., 1957: *Literary Criticism: A Short History,* New Delhi, Oxford & IBH Publishing Co. Pvt. Ltd.
- Baker,Mona and Gabriela Saldanha (ed.), New York,1998: *Routledge Encyclopedia of Translation Studies* (2nd Edition), Routledge.

इकाई 10 राष्ट्र-निर्माण एवं अनुवाद के आयाम-2

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 भारत में राष्ट्र-निर्माण : विचार और अंतर्दृष्टि

10.3 भारत में राष्ट्र-निर्माण और अनुवाद के आयाम

10.4 अनुवाद एक खोज

10.4.1 दक्षिण भारत में आरंभिक अन्वेषण

10.4.2 ब्रिटिश राज का उद्भव और बंगाल में व बंगाल से अन्वेषण

10.4.3 दारा शिकोह, राजा राममोहन राय और 'भारत' की खोज

10.5 खोजकर्ताओं और व्याख्याकर्ताओं की दुविधा

10.6 संस्कृत और फ़ारसी से भारतीय भाषाओं में अनुवाद

10.7 अंग्रेजी भाषा के विचारों, साहित्यिक प्रतिमानों एवं पाठों का भारतीय भाषाओं में अनुवाद : रूप और विषय-वस्तु के बीच अंतर्विरोध

10.8 भारतीय भाषाओं के बीच अनुवाद और भारतीय अंग्रेजी के साथ परस्पर सम्बन्ध : नया अनुक्रम और बोलियों का उदय

10.9 सारांश

10.10 अभ्यास के लिए प्रश्न

10.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

10.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- भारत में 'राष्ट्र-निर्माण' की मूल अवधारणा और व्यावहारिक पक्ष को समझ सकेंगे;
- भारत में राष्ट्र-निर्माण और अनुवाद की भूमिका को समझ सकेंगे;
- ईसाई मिशनरियों के आरंभिक प्रयास से आधुनिक काल तक अनुवाद की भूमिका, योगदान और आयाम को समझ सकेंगे;
- अनुवाद का अर्थ विस्तार - औपनिवेशिक भारत में रूप, विषय-वस्तु का अनुवाद और उसकी व्याख्या को समझ सकेंगे; और
- औपनिवेशिक भारत में भाषाओं और आकांक्षाओं में नए अनुक्रम और उत्तर औपनिवेशिक भारत पर उसके प्रभाव को समझ सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई राष्ट्र-निर्माण एवं अनुवाद के आयाम (1) में हमने राष्ट्र, राष्ट्र-निर्माण के बारे में पढ़ा तथा राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में यूरोपीय अनुभव की विस्तार से चर्चा की। प्रस्तुत इकाई के माध्यम से हम उन सब महत्वपूर्ण बिन्दुओं की चर्चा करेंगे जिन्होंने भारत के राष्ट्र-निर्माण में महती भूमिका अदा की। जैसा कि हम सभी

जानते हैं कि भारत में राष्ट्र की अवधारणा के उद्भव के मूल में उपनिवेशवाद की बड़ी भूमिका है। दूसरे शब्दों में, भारत में अंग्रेजों के आगमन और पुनर्जागरण काल ने राष्ट्रवाद के उदय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इस इकाई में हम इन सभी महत्वपूर्ण बिन्दुओं का विस्तार से अध्ययन करेंगे और जानेंगे कि भारत के राष्ट्र-निर्माण में इनके अतिरिक्त और कौन से महत्वपूर्ण तत्व हैं।

10.2 भारत में राष्ट्र-निर्माण : विचार और अंतर्दृष्टि

इसे इतिहास की भारी विसंगितयों में से एक कहा जा सकता है कि जहाँ 17वीं, 18वीं और 19वीं सदियों में यूरोप के अधिकांश राष्ट्र अपने-अपने समाज में प्रगतिशील परिवर्तन के दौर से गुजर रहे थे वहीं कई राष्ट्र, मुख्यतः इंग्लैंड और फ्रांस, एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के देशों में उपनिवेशवाद फैलाने के लिए पैर जमाने में भी लगे थे। वस्तुतः उपनिवेशवाद यूरोप के राष्ट्र-राज्यों में राष्ट्रवाद के उदय का एक दूसरा और काला पक्ष था। ये राष्ट्र एक ओर अपने समाज में न्याय, समानता और वैचारिक स्वतंत्रता कायम करने के लिए संघर्षरत थे तो दूसरी ओर इसी अवधि में अन्य देशों में अपनी औपनिवेशक ताकत को इस आधार पर सही ठहरा रहे थे कि इससे व्यापार और धर्म का प्रसार होगा जो अंततः बौद्धिक और सांस्कृतिक श्रेष्ठता का रूप लेगा और यह श्रेष्ठता राजनीतिक, सैन्य और आर्थिक सत्ता के दम पर निरंतर बनी रहेगी। ईस्ट इंडिया कम्पनी को स्वयं महारानी एलिजाबेथ (1558-1603) ने 31 दिसंबर 1600 को पूर्व में व्यापार का रॉयल चार्टर और एकाधिकार दे दिया था। कहना न होगा कि 'शुरू से ही यह राजतंत्र से जुड़ा रहा क्योंकि महारानी स्वयं कम्पनी की शेयरधारकों में से एक थीं।' (चंद्रा : 1986)

15-17वीं शताब्दियों में मोटे तौर पर एशियाई और अफ्रीकी देशों और विशेष कर भारत में पुर्तगालियों के नेतृत्व में यूरोपीय ताकतों का आगमन हुआ और इसके बाद ब्रिटिश, डच, और फ्रांसीसी आए। यह दरअसल सर्वश्रेष्ठता का संघर्ष था जो इस अवधि में यूरोप की इन प्रमुख ताकतों के बीच जारी था। जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, यूरोप के ये राष्ट्र स्वयं राष्ट्रीय मंथन (कैथार्सिस) के दौर से गुजर रहे थे और आधुनिक के साथ-साथ ताकतवर बनने की आकांक्षा रखते थे। इन राष्ट्रीय प्रयासों को जारी रखने के लिए औपनिवेशिक विस्तार को एक महत्वपूर्ण आर्थिक एवं राजनीतिक नीति माना गया। यूरोप में वाणिज्य एवं व्यापार में एशिया और भारत की आधुनिकता को आत्मसात करने की बजाय अधिग्रहण करने की अभिरुचि स्पष्ट थी ताकि यूरोप के देश साम्राज्यवादी और निजी राष्ट्रवादी आवश्यकताओं को पूरा कर सकें।

इस अवधि में एक ओर यूरोप के विक्षोभ और इसके प्रमुख देशों में जारी महान सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक एकीकरण के कार्यक्रम और दूसरी ओर मुगल सल्तनत में भारतीय लोगों के अपेक्षाकृत स्थायित्वपूर्ण, शांत और बल्कि अधिक सुनियोजित जीवन को देख कर लगता है कि येन-केन-प्रकारेण प्रगति करने के यूरोप पक्ष के उत्साह ने भारत की सामाजिक-राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संरचनाओं को घातक चोट पहुंचाई। इस परस्पर सम्पर्क के चलते यूरोप, विशेष कर इंग्लैंड, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक मंच पर आसीन हो गया जबकि भारत एक औपनिवेशिक राष्ट्र बन कर अपनी खोई अस्मिता की तलाश में लगा रहा। इसके परिणामस्वरूप एक नई राष्ट्रीय अस्मिता बनी जिस पर औपनिवेशिक मनोदशा का अहम प्रभाव बना रहा।

यद्यपि यह सच है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद की निरंतर बढ़ती मंशा ने भारत को उपनिवेश बनाया पर इस सच से भी मुंह नहीं मोड़ सकते कि देश में औपनिवेशिक शासन की स्थापना और पोषण के पीछे एक बड़ा (पूरक) कारण भारत में राष्ट्रीय संस्कृति या राष्ट्रीय चेतना का अभाव रहा। सन् 1857 में भारतीय स्वाधीनता की पहली लड़ाई, जो देर से छिड़ी, और असफल रही, उस के पीछे किसान, जमींदार, देशी रियासत, शिक्षित भारतीय समूह आदि देश के विभिन्न वर्गों में व्याप्त एकता का अभाव था। बिपन चंद्रा के अनुसार :

'भारतीयों में एकता का अभाव भारतीय इतिहास के इस चरण में प्रायः अपरिहार्य था। भारत में आधुनिक राष्ट्रवाद नाम की कोई अवधारणा नहीं थी। राष्ट्र प्रेम का अर्थ इलाकाई या क्षेत्रीय या अधिक से अधिक प्रांत के लिए प्रेम था। ऐसी आम अभिरुचि की कोई बात, कोई चेतना नहीं आई थी जो भारतीयों को एकजुट रख पाती।' (चंद्रा, 1986)

लेकिन यह राष्ट्रीय चेतना आई और एक बहुत जटिल प्रक्रिया से आई जिसका प्रभाव उस अवधि के सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक और आर्थिक विचारों में दिखता है और जो उस अवधि के अनुवाद कार्यों की गति को प्रभावित करता है। उल्लेखनीय है कि यही चेतना राष्ट्र-निर्माण का पहला अभिन्न आधार और अभिन्न अंग है। ए आर देसाई ने राष्ट्रवाद के विकास की इस प्रक्रिया का बारीकी से वर्णन किया है :

'भारत के विभिन्न समुदायों और प्रांतों में राष्ट्रवाद के विकास की प्रक्रिया, तीव्रता और समय दोनों दृष्टिकोणों से एक समान नहीं रही। यहां राष्ट्रवाद का उदय ब्रिटिश विजय और शासन तथा उनसे उत्पन्न परिस्थितियों के परिणामस्वरूप हुआ। चूंकि यह विजय और नई ताकतों का प्रवेश पूरे देश में एक समय में नहीं हुआ इसलिए राजनीतिक और राष्ट्रीय चेतना के लिए जिम्मेदार परिस्थितियों में विभिन्न भागों और समुदायों में समरूप परिपक्वता नहीं आई।' (देसाई : 1982)

ऐसे में अचरज की बात नहीं कि संविधानवाद के माध्यम से भारत ने राजनीतिक रूप से स्वतंत्र, स्वाधीन और संप्रभु राष्ट्र के रूप में जो भी पहचान बनाई, यह बारंबार विमर्श का विषय बनता रहा कि क्या विभिन्न क्षेत्रों, भाषायी समुदायों आदि मामलों में इस देश की सचमुच एक समरूप पहचान थी।

फिर भी एक सभ्यता स्वरूप भारत के सापेक्ष एक आधुनिक राष्ट्र-राज्य स्वरूप भारत की जटिलताओं को देखें तो उत्तर पक्ष की उपलब्धि से विश्व समुदाय को चकित पाएंगे। स्वाधीनता के बाद के भारत और इसके बहु-भाषी, बहु-संस्कृति समुदायों की जरूरतों को पूरा करने के लिए बहु-दलीय प्रजातंत्र, धर्म निरपेक्षता के सफल मॉडलों के माध्यम से 'अनेकता में एकता' के दर्शन को जिस तरह साकार किया गया उसे विशेष कर एशिया और अफ्रीका के नवोदित राष्ट्र-राज्य सम्मान और सराहना की दृष्टि से देखते हैं।

10.3 भारत में राष्ट्र-निर्माण और अनुवाद के आयाम

इस पृष्ठभूमि में हम देखते हैं कि भारत में राष्ट्रवाद का विकास देर से तथा ब्रिटिश विजय और शासन से उत्पन्न परिस्थितियों के परिणामस्वरूप हुआ। यद्यपि यह आज भी यूरोप के राष्ट्र-राज्य की परिकल्पना में सटीक नहीं बैठता किंतु एक राजनीतिक और सांस्कृतिक निकाय के रूप में समेकित होने की अपनी उपलब्धि के लिए प्रशंसनीय रहा है। दूसरी ओर, हम अनुवाद कार्य को प्रभावित और प्रोत्साहित करने वाले विभिन्न कारकों को देखते हैं। इन गतिविधियों को सामान्यतः हम 'नई खोज' - और उनकी व्याख्या मान लेते हैं जो एक बहु-आयामी फलक का अभिन्न हिस्सा और स्वाभाविक परिणति है। आधुनिक भारत के निर्माण के विभिन्न चरणों जैसे कि उपनिवेशवाद के आरंभिक चरणों, इसके संगठित होने के चरण, उपनिवेशवाद-विरोध और उत्तर उपनिवेशवाद में इनकी छाप दिखती है।

भारतीय संदर्भ में मोटे तौर पर 'खोज' की निम्नलिखित तीन शैलियों की पहचान की गई है जो अनुवाद कार्य का प्रोत्साहन करने और राष्ट्र-निर्माण में योगदान देती हैं। ये बाह्य, आंतरिक और अर्द्ध-बाह्य एवं अर्द्ध-आंतरिक गतिशीलता की प्रत्युत्तर हैं :

1. यूरोप एवं भारत के लोगों द्वारा 'भारत की खोज' : *धर्म, संस्कृति, भाषा एवं राजनीति से प्रेरित अनुवाद।*
2. उपनिवेशवाद में भारतीयों द्वारा यूरोप एवं बृहत्तर विश्व की खोज : *पाठ और विचारों का अनुवाद।*
3. भारतीयों द्वारा नई एवं दलित पहचानों की खोज : भाषायी, *पाठ-विषयक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं लैंगिक पहचानों का अनुवाद।*

यह कहना उचित होगा कि ये खोज परस्पर सम्बद्ध हैं एवं पृथक् भी; एक दूसरे को प्रभावित करती हैं और एक दूसरे से अछूती भी; परस्पर तालमेल रखती हैं और विरोध भी; कभी-कभी एक काल खंड और भूखंड की हैं और कभी-कभी अलग-अलग भूखंड में एक दूसरे के आगे-पीछे भी। लेकिन इनमें एक मौलिक मार्गदर्शी सिद्धांत यह है कि अनुवादक खोज और व्याख्या दोनों करते हैं। वे दो या अधिक भाषाओं, संस्कृतियों, कालखंडों, विचारों के बीच परस्पर सम्बन्ध और पृथक् होना दर्शाते हैं। अनुवाद अध्ययन के विषय और संदर्भ के कई मूल मसले हैं जैसे कि अनुवादक कौन है, वे क्या अनुवाद करते हैं, किस परिस्थिति में अनुवाद करते हैं, किस भाषा से किस भाषा

में अनुवाद करते हैं, अनुवाद क्यों होता है। ये मसले दरअसल इस तरह परस्पर सम्बद्ध हैं कि इन खोजों को यथासंभव आमने-सामने रख कर समझना होगा। इसी से भारत के एक आधुनिक राष्ट्र-राज्य के रूप में विकास की प्रक्रिया समझ आएगी। और कहना न होगा कि इस प्रक्रिया का पाठ और विचारों के अनुवाद के बदलते समीकरणों (डायलेक्टिक्स) पर उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा। यहां यह उल्लेख करना आवश्यक है कि चूंकि भारत उपनिवेशवाद की अभूतपूर्व और कठिन प्रक्रिया से गुजरने के बाद एक आधुनिक राष्ट्र-राज्य बना इसलिए अनुवाद की गतिविधियों को वस्तुतः लिखित या मौखिक टेक्स्ट के अनुवाद और व्याख्या तक सीमित नहीं रखा जा सकता। इसे विभिन्न संस्कृतियों, धर्मों, वर्गों, भाषाओं, अस्मिताओं, नीतियों और मानकों की खोज एवं व्याख्या के रूप में देखने की आवश्यकता है। इसलिए राष्ट्र-निर्माण की अवधारणा को मोटे तौर पर वर्ग एवं परस्पर सम्बन्ध के नजरिये से देखने की जरूरत रही है जिसने भारत को एक उपनिवेश राष्ट्र और इंग्लैंड को उपनिवेशवादी शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया। इस तथ्य का 18 वीं सदी के उत्तरार्द्ध से प्रभाव पड़ा। पूरी गतिविधि का एक ऐतिहासिक नजरिया बनाने के लिए भारतीय संस्कृति एवं समाज सम्बद्ध नीतियों के सम्बन्ध में 16वीं सदी के उत्तरार्द्ध से पुर्तगाल, हॉलैंड, डेनमार्क, जर्मनी आदि देशों के यूरोपीय मिशनरियों की आरंभिक खोजों और प्रयोगों की जड़ तक पहुंचना होगा। यह प्रक्रिया 17 वीं सदी से होती हुई अंततः ब्रिटिश औपनिवेशिक नीतियों के प्रयोगों में समाहित हुई।

10.4 अनुवाद एक खोज

1498 में पुर्तगाल से भारत के बीच एक नए समुद्री मार्ग से वास्को डे गामा द्वारा भारत की 'खोज' और 1946 में जवाहरलाल नेहरू की कृति 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' के प्रकाशन के बीच के काल खंड में भारतीय संस्कृति और सभ्यता की दो स्तर पर खोज हुई। 16-20 वीं सदियों के दौरान भारत के आधुनिक यूरोपीय विश्व के सम्पर्क में आने से ये दो स्तर कायम हुए - एक ओर यूरोपीय थे और दूसरी ओर भारतीय। यूरोपीयों हेतु भारत अपने-आप में एक 'खोज' थी हालांकि यह तो सदैव अस्तित्व में रहा है अलबत्ता एक काल खंड विशेष में यूरोप के एक हिस्से के लिए अज्ञात रहा। भारतीयों के लिए यह उनके स्वर्णिम अतीत, जीवंत भाषाओं और संस्कृतियों, विरोधाभासों और सामाजिक, सांस्कृतिक, भाषायी, आर्थिक विसंगतियों के साथ-साथ एक राजनीतिक इकाई के रूप में भारतीयता के प्रति राष्ट्रीय चेतना की खोज थी और इसलिए 'भारत' पर अधिक जोर दिया गया।

10.4.1 दक्षिण भारत में आरंभिक अन्वेषण

16वीं एवं 17वीं सदियों में जब मुगल साम्राज्य चरम पर था तब यूरोप के विभिन्न भागों से आए यात्रियों एवं मिशनरियों ने दूरगामी प्रभाव के कई प्रयोग किए। यहाँ हम बाइबल और अन्य ईसाई सामग्रियों के भारतीय भाषाओं में अनुवाद का संदर्भ ले सकते हैं। उल्लेखनीय है कि दक्षिण भारतीय समुद्र तटीय प्रदेशों जैसे कि गोवा, केरल और तमिलनाडु में छापाखाने और 'मूवेबल टाइप' का आरंभ कथित प्रयोगों का हिस्सा है। आरंभ में यूरोपीयों ने दोहरे लाभ के मकसद से भारत और एशिया के अन्य हिस्सों हेतु समुद्री मार्गों की खोज की - 'व्यापार का अवसर पाना और नई दुनिया को ईसाई बनाना'। पुर्तगाल, हॉलैंड, डेनमार्क, जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैंड, स्पेन आदि के राजदरबारों के प्रतिनिधि इन मिशनरियों को बहुभाषिक भारतीय संस्कृति को समझते देर नहीं लगी। उन्होंने भारतीय भाषाएँ, विशेषकर संस्कृत सीखी। विभिन्न भाषाओं का व्याकरण और शब्दकोश तैयार किया और अनुवाद और भारतीय 'बाजार' को समझने का एक वैज्ञानिक ढांचा भी तैयार किया। इन प्रयासों में सबसे ऊपर पुर्तगालियों का नाम है। और ऐतिहासिक रूप से महत्वपूर्ण इन धार्मिक-भाषायी प्रयोगों के लिए सबसे पहले तमिल और तमिझ उपयोग में आईं। तमिल कृतियां जनाधार के चलते अधिक प्रकाशित हुईं।

प्रोटेस्टेंट मिशनरियों ने न केवल तमिल संस्कृति एवं भाषा बल्कि स्थानीय लोगों से भी मेल-जोल बढ़ाने का प्रयास किया। इसमें केरल के ट्रांकेबार में डेनमार्क की बस्ती में सक्रिय डेनमार्क के सुप्रसिद्ध मिशनरी जिगेनबाल्ग (1688-1719) का नाम खास तौर पर उल्लेखनीय है। स्थानीय तमिल विद्वानों से सालों तमिल भाषा सीखने के बाद उन्होंने 'न्यू टेस्टामेंट' और 'एपोस्ल्स' का तमिल अनुवाद किया। यह अनुवाद अधिक जीवंत और मौलिक माना जाता है। आगे चल कर विलियम कैरी ने अपनी सफलताओं में जिगेनबाल्ग की कृतियों का लाभ लिया। जिगेनबाल्ग ने अपने पत्रों में भी कैथोलिक मिशनरियों की 'अनैतिक गतिविधियों एवं भ्रष्टाचार' का उल्लेख किया

है। इस तरह 'कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट के बीच कभी छद्म तो कभी खुले विरोध' की जमीन' तैयार हो गई। एक ओर भारतीयों को ईसाई मत अपनाने के लिए मनाने की प्रक्रिया और दूसरी ओर विभिन्न संप्रदायों एवं राष्ट्रों के मिशनरियों के समरूप कार्यों की आलोचना से यूरोपीय मिशनरियों द्वारा 'भारत की खोज' के आरंभिक चरणों में संस्कृति और सत्ता की एक जटिल संरचना सामने आती है।

भारतीयों के करीब आने और अन्य मिशनरियों से दूरी बनाने की एक अन्य मिसाल इतालवी यहूदी पादरी माननीय बेशी (मृत्यु 1746) हैं जिन्होंने सिद्धहस्त तमिल विद्वान के रूप में तमिल महाकाव्य टेम्पवनी लिखा जिसमें संत जोसफ का महिमा मंडन है। इस तरह टेक्स्ट के बदले पाश्चात्य विचारों का सीधे भारतीय भाषाओं में अनुवाद शुरू हुआ । हालांकि माननीय बेशी 'ट्रांकेबार के डेनिश मिशन की कटु आलोचना' करते रहे और जिगेनबाल्ग द्वारा 'न्यू टेस्टामेंट' के तमिल अनुवाद की भी आलोचना की।

हालांकि मिशनरियों के आरंभिक प्रयासों से प्राप्त प्रेरणा किसी 'उर्वर भूमि पर नहीं पड़ी'। मोटे तौर पर उनकी कृतियां, दुर्लभ पांडुलिपि और ग्रंथ विद्वानों और यूरोप के पुस्तकालयों तक सीमित रहीं। लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि उनकी कृतियाँ यह स्थाई धारणा देने में अवश्य सफल रहीं कि यूरोप के धर्म, व्यापार और अंततः यूरोपीय संरचनाओं के भारत भूमि पर विकास में अनुवाद की अहम् भूमिका होगी। दूसरी और अधिक महत्वपूर्ण बात यह कि भारतीय भाषाओं के व्याकरण, कई यूरोपीय भाषाओं के साथ द्विभाषी शब्दकोश और मुद्रण की प्रक्रिया में भी अनुवाद का महत्वपूर्ण योगदान होगा।

10.4.2 ब्रिटिश राज का उद्भव और बंगाल में व बंगाल से अन्वेषण

1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य के तेज पतन के परिणामस्वरूप 1757 में पलासी के निर्णायक युद्ध के साथ ही बंगाल में अंग्रेजों का प्रभुत्व कायम हो गया। अगले लगभग 50 सालों में मराठा, हैदराबाद, मैसूर, अवध, पंजाब आदि क्षेत्रों में भी इसका विस्तार हुआ। इसी अवधि में फ्रांसीसियों की भारतीय साम्राज्यवादी मंशा को अंग्रेजों ने चकनाचूर कर दिया। इस तरह ब्रिटेन एक विशाल भूभाग, भारतवर्ष के संसाधनों का एकमात्र दावेदार बन बैठा। इस दौरान ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी का भारतीय प्रशासन ब्रिटिश सरकार के प्रत्यक्ष नियंत्रण में आ गया। ऐसा कई संसदीय कानूनों के माध्यम से हुआ जैसे कि नियंत्रण अधिनियम (1773), पिट्स इंडिया अधिनियम (1784) और चार्टर अधिनियम (1833)। कम्पनी के भारत पर व्यापारिक एकाधिकार का अंत हुआ और भारत का मार्ग सभी ब्रिटिश नागरिकों के लिए खोल दिया गया।

पहले व्यापारी और फिर उपनिवेशवादी स्वरूप भारत में लम्बी अवधि तक मौजूदगी और अंतिम दो सदियों में ईसाई मिशनरियों द्वारा दक्षिण भारत में किए गए विभिन्न प्रयोगों द्वारा और अंततः बंगाल और देश के अन्य भागों में पहुंच कायम करने के बाद अब जाने-अनजाने एक ऐसा मंच तैयार था जिस पर ब्रिटिश सत्ता ने अंग्रेजी और पाश्चात्य शिक्षा शुरू करने का सांस्थानिक हस्तक्षेप किया। इसका एक राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इकाई के रूप में भारत पर दूरगामी प्रभाव हुआ, भले ही ब्रिटिश सत्ता को दक्षिण भारत में ईसाई मिशनरियों के प्रयोगों की जानकारी नहीं थी। 19वीं सदी के आरंभ में उन्होंने दो धरातलों पर सुनियोजित कार्य किया ताकि भारत में उनके औपनिवेशिक शासन में सुदृढ़ता और स्थायित्व आए। एक तो, उन्होंने भारत में भू-स्वामित्व और राजस्व के नियमों में उपयुक्त परिवर्तन कर भारत की संपत्ति का दोहन किया और उसे अपने देश ले गए। दूसरा, उन्होंने समय के साथ, प्रशासनिक तंत्रों जैसें रेल मार्ग, सड़क मार्ग और डाक-तार सेवाओं को पूरे देश में विकसित किया। पाश्चात्य शिक्षा का आरंभ और प्रसार इन नीतियों को सांस्कृतिक और वैचारिक ढांचा देने के लिए किया गया। इसका उद्देश्य अधिवक्ताओं, चिकित्सकों, शिक्षकों, पत्रकारों, न्यायाधीशों, अधिकारियों आदि व्यावसायिक लोगों के विशेष वर्ग के माध्यम से पाश्चात्य सांस्कृतिक श्रेष्ठता के विचार के साथ भारत में पैठ बनाना था। ब्रिटिश राज को इस प्रयास का भरपूर लाभ मिला।

हालांकि ब्रिटिश साम्राज्य हेतु भारतीय भाषाओं के ज्ञान और विभिन्न प्रकार के पाठों के एक से दूसरी भारतीय भाषाओं में अनुवाद की व्यावहारिक जरूरत थी फिर भी कुछ पाश्चात्य विद्वानों (जिनका ब्रिटिश साम्राज्य से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था) के रोमांटिक नजरिये ने भी प्राचीन भारतीय ग्रंथों के पाश्चात्य भाषाओं में अनुवाद के साथ पश्चिमी देशों द्वारा 'भारत की खोज की चेतना' में अपना योगदान दिया। ये औपनिवेशिक स्वामी और

औपनिवेशिक प्रजा और इस तरह पूर्व और पश्चिम के बीच दुभाषिये की भूमिका में रहे। इस प्रकार पहली श्रेणी में वे रचनाएं हैं जो गवर्नर जनरल वॉरेन हेस्टिंग्स के शासन काल (1772-1785) में शुरू हुईं। इन रचनाओं का उद्देश्य साम्राज्य की उपलब्धियों को और सुदृढ़ करना था। संस्कृति-सत्ता के समागम के लिए अनुवाद की उपयोगिता को रेखांकित करने हेतु विवादर्णवसेतु (विवादों से पार उतरने का पुल) और फारसी के जरिये इसके अंग्रेजी अनुवाद - नैथेनियल ब्रासी हॉलहेड की 'ए कोड ऑफ जेंटू लॉज' (1776) - का संदर्भ दिया जा सकता है। हेस्टिंग्स के मार्गदर्शन में आई कृति 'ए कोड ऑफ जेंटू लॉज' का उद्देश्य ब्रिटिश अधिकारियों को भारत में कानून व्यवस्था के स्रोतों से अवगत कराना था। हेस्टिंग्स ने संस्कृत के विद्वान चार्ल्स विलकिंस को बनारस के स्थानीय संस्कृत विद्वानों से ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित किया। इस प्रयास के 'पहले फल' के रूप में 1785 में भगवद्गीता का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ। इसका पूर्व कथन स्वयं हेस्टिंग्स ने लिखा और इसके बाद हितोपदेश का भी अनुवाद किया गया। हेस्टिंग्स के इन प्रयासों को उसके उत्तराधिकारियों ने बढ़ाया।

गवर्नर जनरल लॉर्ड वेलस्ली (1798-1805) ने कोलकाता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की। इसका उद्देश्य 'यूरोपीय अधिकारियों को भारतीय भाषाओं का ज्ञान देना था ताकि वे देश का काम-काज बेहतर ढंग से कर सकें'। तथा सन् 1800 में ही सीरामपुर में एक 'ईसाई मिशन' की नींव रखी गई जिसका उद्देश्य 'बंगाल में ईसाइयत का प्रचार-प्रसार' करना था। ये भारत की खोज प्रक्रिया के संस्थानीकरण की मिसाल हैं। दोनों संस्थान अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु तालमेल से काम करने लगे। फोर्ट विलियम; जॉन गिलक्रिस्ट (1759-1842) की देखरेख में विद्वानों, बहु-भाषाविदों और दृढ़ प्रतिज्ञ लोगों के सहयोग से सुचारु रहा जबकि ईसाई मिशन विलियम कैरी (1761-1834), विलियम वार्ड (1769-1823) और जोशुआ मार्शमैन (1769-1834) की तिकड़ी के मार्गदर्शन में अग्रसर रहा। कैरी के मार्गदर्शन में सीरामपुर प्रेस ने बाइबल का 45 से अधिक भाषाओं में अनुवाद प्रकाशित किया। इनमें 38 का अनुवाद सीरामपुर में ही हुआ। कैरी ने स्वयं 28 का पूर्णतः या अंशतः अनुवाद किया जिनमें से कई भारतीय और कई विदेशी भाषाओं में अनूदित थे। फोर्ट विलियम कॉलेज ने भी पाठ्यक्रम में अरबी, बांग्ला, हिन्दुस्तानी (हिन्दी एवं उर्दू), फारसी, अंग्रेजी, संस्कृत आदि की पुस्तकों को स्थान दिया और उनका प्रकाशन भी किया। संस्कृत में हिन्दुओं के कई धार्मिक एवं धर्मनिरपेक्ष ग्रंथों और अरबी की पुस्तकों के भारतीय भाषाओं में अनुवाद के साथ-साथ उन पुस्तकों पर जोर दिया गया जो विद्यार्थियों को भारतीय भाषाओं और उनके व्याकरण का ज्ञान या सरसरी जानकारी दे सकें। अंग्रेजी भाषा में तैयार इन पुस्तकों में उल्लेखनीय हैं - अरेबिक सिंटैक्स, ए ग्रामर ऑफ द अरेबिक लैंग्वेज़, डायलॉगस इंटेंडेड टु फेसिलीटेट द एक्वायरिंग ऑफ द बंगाली लैंग्वेज़, द स्ट्रेंजर्स ईस्ट इंडिया गाइड टू द हिन्दुस्तानी, डायलॉग्स : इंगलिश एण्ड हिन्दुस्तानी आदि। बाद में, 1812 में मद्रास में कॉलेज ऑफ फोर्ट सेंट जॉर्ज की स्थापना की गई। इसके उद्देश्य भी वही थे - भारत आए ब्रिटिश अधिकारियों को प्रशिक्षण देने हेतु दक्षिण भारतीय भाषाओं का अनुवाद और व्याख्या करना। फ्रांसिस व्हाइट एलिस के नेतृत्व में कॉलेज ने द्रविड़ भाषाओं को एक अलग परिवार में रखने की बात की और इसमें सफलता के लिए संस्कृत एवं अंग्रेजी के कुछ अनुच्छेदों का तमिल, तेलुगु और कन्नड़ में अनुवाद किया और अनूदित पाठ्यों की वाक्य संरचनाओं का विश्लेषण भी किया।

दूसरी श्रेणी में विलियम जोन्स (1746-1794) द्वारा स्थापित बंगाल की एशियाटिक सोसायटी के नेतृत्व में अंग्रेजी एवं अन्य यूरोपीय प्राच्य विद्वानों के अनुवाद कार्यों को इस आलोक में देखना होगा कि यद्यपि उन्होंने सबसे व्यापक अर्थ में साम्राज्यवाद के सुदृढ़ीकरण हेतु एक सांस्कृतिक एवं बौद्धिक माध्यम देने में अहम् भूमिका निभाई तथापि औपनिवेशिक स्वामियों ने श्रेष्ठता का जो लबादा ओढ़ रखा था उसका कई स्थानों पर पर्दाफाश भी कर दिया। एशियाटिक सोसायटी के संस्थापक पहले व्यक्ति थे जिन्होंने संस्कृत का ग्रीक और लैटिन के साथ आनुवांशिक सम्बन्ध होने का दावा किया और जर्मन, सेल्टिक और फारसी से सम्बन्ध होने की बात भी मानी। संस्कृत, जर्मन एवं लैटिन के अंकों में समानता का दावा करने वाले जर्मन मिशनरी बेंजामिन शुल्ज़ के विचारों पर चलते हुए सर विलियम जोन्स ने 1786 में हिन्दुओं के इतिहास एवं संस्कृति पर अपने तीसरे वार्षिक विमर्श में एक युगांतकारी अवलोकन किया जो किसी रूप में ब्रिटिश शासकों की उस सांस्कृतिक श्रेष्ठता से नहीं मिलता है जो साम्राज्यवादी अपनी विस्तारवादी नीतियों के तहत भारतीयों पर लादना चाहते थे :

'संस्कृत भाषा की प्राचीनता जो भी हो, संरचना आश्चर्यजनक है; ग्रीक से अधिक सुगठित, लैटिन से अधिक प्रचुर और दोनों से अधिक परिष्कृत। फिर भी इसका दोनों से सशक्त लगाव है, जो क्रिया पदों और व्याकरण के रूपों की जड़ों में दिखता है।' (विंटरनिट्स : 1981)

'विलियम जोन्स ने 1789 में कालिदास के संस्कृत नाटक शाकुंतलम का अंग्रेजी में अनुवाद किया। यह जर्मनी एवं अन्य यूरोपीय राष्ट्रों में प्राच्यवाद के प्रसार के दृष्टिकोण से एक ऐतिहासिक पल था। जॉर्ज फॉर्स्टर द्वारा 1791 में इसके जर्मन अनुवाद के साथ 'इसने हर्डर और गेटे जैसी हस्तियों को उत्साहित कर दिया। उन्होंने 1794 में भारतीय विधि साहित्य की सबसे सम्मानित कृति मनु की विधि संहिता (लॉ बुक ऑफ मनु) का भी अनुवाद किया। 1797 में इसका जर्मन अनुवाद भी हुआ। एशियाटिक सोसायटी के दो जर्नल - एशियाटिक मिसलेनी और एशियाटिक रिसचर्स में फारसी कवियों जैसे कि हाफिज़, दर्द, सादी, हमजा, अबू नसीरुद्दीन की कविताएं नियमित रूप से अंग्रेजी अनुवाद में प्रकाशित होती रहीं। हिन्दू देवी-देवताओं जैसे कि नारायण, ब्रह्मा, व्यास, दुर्गा, भवानी, प्रकृति के संस्कृत से अंग्रेजी में अनूदित श्लोक भी प्रकाशित होते रहे। एशियाटिक सोसायटी में विलियम जोन्स के उत्तराधिकारी बने हेनरी टॉमस कोलब्रूक, जो भारतीय दर्शन और वास्तुकला के असली संस्थापक साबित हुए।

भारतीय पाठों का अंग्रेजी और उससे विभिन्न यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद हुआ। यह एशिया के 'भूले-बिसरे और छूटे' पाठों को खोज निकालने का प्राच्य विद्वानों के 'दुस्साहस' का परिणाम था। इससे अनुवाद की गतिविधियां तेज हुईं। विलकिंस के गीता के अनुवाद का विभिन्न यूरोपीय भाषाओं जैसे कि फ्रेंच, जर्मन, इतालवी और रूसी में अनुवाद हुआ। जर्मनी में श्लेगल भाइयों, शॉपनहॉवर, हर्डर और हमबोल्ड के नेतृत्व में रोमांटिक्स ने प्राचीन भारतीय ग्रंथों जैसे कि उपनिषद, रामायाण, महाभारत, भगवद्गीता, अभिज्ञानशाकुंतलम, पंचतंत्र, मनु की विधि की पुस्तक के अध्ययन के नए युग का बड़े उत्साह से आरंभ किया। तत्कालीन महानतम कवियों जैसे कि गेटे ने भी यही उत्साह दिखाया और मैक्समूलर ने इस उत्साह को बनाए रखा। इन ग्रंथों का संस्कृत से सीधे जर्मन में अनुवाद हुआ। 18वीं सदी का अंतिम दशक और 19 वीं सदी का पूर्वार्द्ध भारत की गंभीर दार्शनिक और आध्यात्मिक खोज का काल साबित हुआ। इसने पाश्चात्य देशों मे कथित कालखंड की कृतियों के अनुवाद को प्रोत्साहित किया।

प्राच्य विद्वानों के साथ-साथ फोर्ट विलियम कॉलेज और सीरामपुर मिशन के विद्वानों के अनुवाद कार्यों के आकलन से ऊपर दी गई यह स्थापना पुष्ट होती है कि अनुवाद से साम्राज्य का सांस्कृतिक पहलू मजबूत हुआ और भारत की बहुभाषिक और बहुसांस्कृतिक पृष्ठभूमि में अंग्रेजों की पकड़ भी मजबूत हुई। उनके कार्यों से उभरे सांस्कृतिक संवाद की शैली से स्पष्ट है कि भारतीय स्थानीय विद्वान इन अध्ययनों में मूक भागीदार बने रहे।

हालांकि जटिल औपनिवेशिक परिवेश में भारतीयों द्वारा जर्मन प्राच्य विद्वानों को सम्मान की नजर से देखना स्वाभाविक था क्योंकि उन्होंने संस्कृत भाषा एवं साहित्य का महिमा मंडन कर राष्ट्र-निर्माण की शक्ति दी थी। दूसरी ओर, फोर्ट विलियम कॉलेज और सीरामपुर में किए गए कार्यों की पीछे की मंशा संदिग्ध हो गई थी क्योंकि उनमें साम्राज्यवाद के विस्तार की नीयत नजर आने लगी। भारत पर इंग्लैंड के सांस्कृतिक वर्चस्व के साथ-साथ प्रशासनिक तंत्र को मजबूत करने की मंशा जाहिर होने लगी थी।

यह एक सच्चाई है कि अन्य औपनिवेशिक हस्तक्षेपों की तरह इन दो प्रयासों ने पहले तो भारतीयों को एक राष्ट्रीय पहचान दी, परंतु भारतीयों ने कालांतर में स्वयं जाना कि यह कितनी सतही पहचान थी। प्राच्य विद्वान बिना किसी आलोचना और औपनिवेशिक पराधीन वर्तमान पर विचार किए बिना जिस तरह भारत के अतीत के प्रशंसक रहे और वैश्विक परिदृश्य में भारत की छवि बनाने में लगे रहे उससे एडवर्ड सईद की इस उक्ति की पुष्टि होती है कि यह 'एक प्रकार से पूर्व पर पाश्चात्य के आरोपण और प्रशासन' का प्रयास था।

दूसरी ओर, कॉलेज और मिशन द्वारा भारतीय भाषाओं और व्याकरणों को वैज्ञानिक कसौटी पर रखने के प्रयास से अनजाने ही सही, भारतीय पारंपरिक विद्वानों की आभिजात्य सोच को झटका लगा। 1778 में 'ए ग्रामर ऑफ द बंगाल लैंग्वेज़' तैयार करने वाले हॉलहेड पर अपने लेख में जब श्री दास निम्नलिखित वक्तव्य देते हैं तो वे कई अर्थों में भारत के औपनिवेशीकरण की जड़ पर कुठाराघात करते हैं :

'संस्कृत के साथ-साथ कुछ हद तक अरबी और फारसी व्याकरण की समस्याओं से गहराई से जूझते ही भारतीय विद्वानों ने शायद ही कभी अपने इर्द-गिर्द की जीवित भाषाओं के व्याकरण को तैयार करने की जरूरत महसूस

की। बांग्ला व्याकरण की औपचारिक शिक्षा देने की कोई जरूरत नहीं थी क्योंकि उच्च स्तर पर बांग्ला की पढ़ाई नहीं होती थी। और प्रायः बंगाल के विद्वान बांग्ला, आम लोगों की बोलचाल की भाषा, को विद्वत् अन्वेषण के लिए सही विषय नहीं मानते थे। (दास : 2001)

एक अर्थ में ब्रिटिश प्राच्य विद्वानों और ब्रिटिश राज के अधीन संस्कृति एवं शिक्षा के संस्थानों ने भारत और इसके अतीत के साथ-साथ इसकी जीवित संस्कृतियों के बारे में मात्र अपने सीमित उद्देश्य को पूरा करने के लिए कई उल्लेखनीय खोज कार्य किए। उन्होंने पाठों के अनुवाद की व्याख्यापरक भूमिका का पूरा दोहन किया जिसका शिक्षित भारतीयों और 'राष्ट्रीय' पहचान की उनकी मंशा पर एक जटिल और दीर्घकालिक प्रभाव पड़ा।

10.4.3 दारा शिकोह, राजा राममोहन राय और 'भारत' की खोज

19वीं सदी से आगे अनुवाद कार्यों के इस पहलू पर विमर्श करने से पूर्व मुगल शहजादे दारा शिकोह (1615-1659) की उल्लेखनीय भूमिका की चर्चा करना उचित होगा। मुगल सम्राट शाहजहां के बेटे और फारसी एवं संस्कृत के विद्वान और कवि दारा शिकोह ने अनजाने में ही सही सबसे पहले 18 वीं सदी की पुस्तक 'जर्मन ओरियंटलिज़्म' का स्रोत प्रदान किया। दूसरी बात यह कि दारा शिकोह ने अनुवादों के जरिये भारत की खोज की परम्परा की अहमियत को सामने रखा। जिसमें राजा राममोहन राय के योगदान की संभावना छिपी थी। दारा शिकोह ने 1657 में 50 उपनिषदों का मूल संस्कृत से फारसी में अनुवाद किया। ओपनेख़त शीर्षक की इस रचना में बनारस से दिल्ली बुलाए गए संस्कृत के विद्वानों का सहयोग लिया गया। फ्रेंच विद्वान एंकेटिल डुपरॉन ने 1801-02 में इसका फारसी से लातिन में अनुवाद किया। यों तो लातिन अनुवाद बहुत अच्छा न था पर जर्मन प्राच्यविद् शोपनहॉवर (1788-1860) ने इसी आधार पर उपनिषद को 'मनुष्य की मेधा की मूर्धन्य कृति' करार दिया। इसने भारतीय अध्ययनों में अन्वेषण का सिलसिला कायम रखा जिसकी हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं।

दारा शिकोह जॉन ड्राइडन और भारत में कदम रखने वाले और देश के साथ सम्बन्ध कायम करने वाले आरंभिक मिशनरियों का समकालीन था। उसने भी पाठों और संदर्भों के व्याख्याता के तौर पर एक अनुवादक की अहम् भूमिका का लाभ लिया और इस्लाम और हिन्दुत्व के बीच एक आम, सूफी भाषा, के अन्वेषण का प्रयास किया। दारा शिकोह ने भारत के अतीत के प्रति रोमांस के नजरिये से अनुवाद कर्म का यह प्रयास नहीं किया। भारत की समेकित संस्कृति में भागीदार के तौर पर उन्होंने अपने अनुवादों के जरिये अपने ही देश वासियों को अपनी बात कहने की चेष्टा की। बदले परिदृश्य में राजा राममोहन राय (1772-1833) ने भी यही भूमिका निभाई। हालांकि राजा राममोहन राय ने इस सम्बन्ध में औपनिवेशिक शासकों और ईसाई मिशनरियों को प्रत्युत्तर देने का काम भी किया।

राजा राममोहन राय संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी, फ्रेंच, लातिन, ग्रीक और हिब्रू समेत एक दर्जन से अधिक भाषाओं के साथ संस्कृत साहित्य, हिन्दू और जैन दर्शन, कुरआन और बाइबल आदि के अच्छें ज्ञाता थे। भारतीय क्षितिज पर 19वीं सदी के आरंभ में उनका उदय हुआ। उन्होंने ब्रिटिश शासकों द्वारा स्थापित सांस्कृतिक दबदबे का पर्दाफाश करने का प्रयास किया। हालांकि राय ने न तो भावुकता और न ही अतीत के प्रति रोमांस का रास्ता चुना। वे तर्कसंगत थे। इसलिए भारत के पारम्परिक सिद्धांतों की वकालत करते हुए उन्होंने उसकी कुरीतियों और अंधविश्वासों की मुखालफत की। उन्होंने सामाजिक और धार्मिक सुधारों का झंडा उठाया।

यहां हमें इसकी सबसे अच्छी मिसाल मिलती है कि कैसे किसी संदर्भ विशेष में कोई ग्रंथ सभी देश-काल में बौद्धिक, सांस्कृतिक, धार्मिक यहां तक कि राजनीतिक विमर्श का गढ़ बन सकता है। 1815 में राय ने वेदांत ग्रंथ का संस्कृत से बांग्ला में अनुवाद किया। इससे संस्कृत, फारसी और बाद में अंग्रेजी के पाठों की आधुनिक भारतीय भाषाओं में अनुवाद की संभावना बढ़ी जिससे भाषाएँ बौद्धिक एवं सामाजिक विमर्श की माध्यम बनीं। अनुवादों एवं पत्र-पत्रिकाओं के जरिये बांग्ला की आधुनिक और सौम्य गद्य शैली विकसित करने के अलावा उन्होंने बांग्ला व्याकरण की भी रचना की।

10.5 खोजकर्ताओं और व्याख्याकर्ताओं की दुविधा

सुशिक्षित भारतीयों द्वारा 'भारत' की खोज का एक अभिन्न हिस्सा मौजूदा भारतीय समाज की प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष सामाजिक एवं धार्मिक विसंगतियों एवं भेदभावों पर गौर करने की चेतना थी। यही कालांतर में राष्ट्रीय एवं उप-राष्ट्रीय अस्मिताएं बनने में मुख्य प्रेरणा रही। राममोहन राय ने ही सबसे पहले इस तथ्य को रेखांकित किया। जाहिर है यह दुविधा भी सबसे पहले उन्हीं के सामने आई - समाज के सामाजिक-सांस्कृतिक सुधार के लिए उदारवादी एवं तर्कसंगत पाश्चात्य शिक्षा का लाभ लें या भारतीय समाज में प्राचीन संस्कृति एवं परम्परा को अक्षुण्ण रखने के लिए भारतीय समाज की विसंगतियों को कायम रहने दें। राय ने आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा की वकालत करते हुए भारतीय संस्कृति एवं परम्परा को समझने पर जोर दिया। आगे बढ़ने की इस स्थिति से आधुनिक भारत में राष्ट्र-निर्माण के प्रयासों का मनोभाव बना और 19वीं एवं 20वीं सदी के किसी गणमान्य भारतीय ने इस लीक से हटना उचित नहीं समझा। लेकिन राय एवं अन्य के इस नजरिये का अंग्रेजों ने अपने हित साधन में लाभ लिया। बहुचर्चित 'मिनट्स ऑफ मैकाले' (1835) ने भारत हेतु अंग्रेजी शिक्षा की अनुशंसा की। इसमें साम्राज्यवादी अभिमान एवं दंभ था हालांकि इसकी अभिव्यक्ति एक उपयोगितावादी ढांचे में की गई। उनकी सोच थी कि सीमित संसाधन में हमारे लिए इतनी तादाद में लोगों को शिक्षित करना असंभव है। इसलिए वर्तमान में सबसे अच्छा यही होगा कि हम एक ऐसा वर्ग तैयार करें जो हमारे और हमारे शासित लाखों लोगों के बीच दुभाषियों का काम करे, एक ऐसा वर्ग जिसमें रंग और खून तो भारतीय हो पर जिसमें रूचि, मत, नैतिकता एवं बौद्धिकता अंग्रेजों की हो। हम इस वर्ग को देश की बोलियों के परिष्कार, अंग्रेजी नामावली से लिए गए विज्ञान के शब्दों से इन बोलियों को सम्पन्न करने को कहेंगे। और धीरे-धीरे अपार जन समूह को ज्ञान देने के सटीक माध्यम देंगे।

मैकाले के पूर्ववर्ती, राय को इसका इल्म न रहा होगा कि अंग्रेजी शिक्षा का मकसद 'भारतीयों के बीच एक ऐसा वर्ग तैयार करना था जिसमें रंग और खून तो भारतीय हो पर जो रूचि, मत, नैतिकता एवं बौद्धिकता से अंग्रेज हो'। दुभाषिये के इस वर्ग के विकास में पूरी 19वीं सदी लगी पर दुभाषियों के इस वर्ग का सचमुच उदय हुआ और इसने आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास को दिशा दी। आधुनिक भारतीय भाषाओं में विकसित नया साहित्य इसी वर्ग का सृजन था।' इतना ही नहीं राय भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के एक खास मुकाम पर थे, और मुखर थे, जहां उन्हें संस्कृत एवं फारसी जैसी दो सशक्त भारतीय भाषाओं पर अधिकार के साथ भारत के लिए नवोदित भाषा-अंग्रेजी का भी ज्ञान था और उन्होंने बांग्ला की प्रचलित भाषा को आकार देने का प्रयास किया। लेकिन इतने सुयोग्य दुभाषिये (या कहें व्याख्याता), जिसका एक पैर भारतीय संस्कृति के अतीत में जमा था और दूसरा इसके भविष्य संवारने की दिशा में अग्रसर, उनकी जगह वे लेने लगे जो रूचि, मत, नैतिकता एवं बौद्धिकता से अंग्रेज' थे। इसके अपने फायदे और नुकसान थे।

अंग्रेजों को 1615 से ही एक सुयोग्य, कार्यकुशल, निष्ठावान एवं विश्वासपात्र दुभाषिये की कमी खलने लगी जब उन्होंने कम्पनी के साथ संयुक्त रूप से सर टोमस रो को मुगल बादशाह जहांगीर के दरबार में भेजा था। टोमस रो के लिए भारत नामक इस जगह काम करना कठिन था जो सांस्कृतिक एवं भाषायी तौर पर मानो दूसरा उपग्रह हो।

भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं आर्थिक संरचनाओं या यों कहें पाठों एवं संदर्भों-को समझने और उनमें पैठ बनाने की कठिनाई ने मैकाले जैसे अंग्रेज नीतिकारों को अंग्रेजी शिक्षा के जरिये संस्कृतियों एवं नीतियों की व्याख्या करने वाले दुभाषियों की एक ठोस व्यवस्था बनाने को प्रेरित किया जिसमें काम करने वाले इसके लिए प्रशिक्षित हों। पहले बंगाल और फिर अन्य भागों में परस्पर दो संस्कृतियों की व्याख्या करने वाले दुभाषियों ने अनुवाद की गति बदल दी। राष्ट्र-निर्माण पर इसका उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा। पाठों व विचारों का अनुवाद अब छिटपुट नहीं रहा। अब साहित्यिक, भाषायी एवं पाठ की जटिलताओं के साथ राजनीतिक एवं सांस्कृतिक संवाद की सुनियोजित परम्परा बनने लगी जो मुख्यतः तीन वर्गों में देखी गई : इनमें एक वर्ग पारम्परिक संस्कृत एवं फारसी मात्र जानने वालों का था, दूसरा अंग्रेजी ज्ञान प्राप्त लोगों का वर्ग था और एक वर्ग के लोग केवल आधुनिक भारतीय भाषा जानते थे। यह फोर्ट विलियम कॉलेज (अंग्रेजी अधिकारियों को भारतीय भाषाएँ सिखाने का केन्द्र)

से आगे की लंबी छलांग था। अंग्रेजी साम्राज्य को अपने विस्तृत होते प्रशासन एवं राजनीतिक तंत्र की जरूरतों को पूरा करने हेतु अब भारी तादाद में मातहत सरकारी अधिकारियों की जरूरत थी। 1844 में आधिकारिक घोषणा हो गई कि सरकारी पद के आवेदकों के लिए अंग्रेजी का ज्ञान वांछित है। इस तरह कथित वर्ग को तैयार करने की प्रक्रिया और तेज हो गई।

10.6 संस्कृत एवं फ़ारसी से भारतीय भाषाओं में अनुवाद

इस ऐतिहासिक घटना के बावजूद साहित्यिक विमर्श में जहां तक मूल सर्जनात्मक लेखन का सवाल है कोई ठोस परिवर्तन परिलक्षित नहीं हुआ। पूरी 19वीं सदी में हितोपदेश, पंचतंत्र, तूतिनामेह आदि संस्कृत एवं फारसी ग्रंथों के बांग्ला, हिन्दी, मराठी, उर्दू आदि में अनुवाद होते रहे। वस्तुतः 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध एवं 1857 के विद्रोह के बाद खास कर हिन्दी, उर्दू, पंजाबी, सिंधी और कश्मीरी के लिए संस्कृत व फारसी के ग्रंथ ही मूल स्रोत रहे। यह प्रवृत्ति देशीयता का समर्थन है - भारत के गौरवपूर्ण अतीत को संजोने और उसे भारतीय भाषाओं में परिलक्षित करने की एक प्रकार की राष्ट्रीय चेतना। इसका एक अन्य कारण यह था कि भारतीय भाषाओं के स्रोत संस्कृत एवं फारसी की भाषायी एवं साहित्यिक परम्पराओं में थे और सर्जनात्मक संपन्नता के लिए उनके अभिमुख थे। हालांकि अब गद्यशैली में गल्प पर जोर दिखने लगा और इस प्रकार संस्कृत के ग्रंथ विविध रूपों में अनूदित होने लगे। विद्यासागर ने 'शकुंतला' (1854) का अनुवाद किया जो कि कालिदास के नाटक पर आधारित एक गद्य पाठ है। यह इस दृष्टिकोण से भी उल्लेखनीय है कि इसमें एक नई विधा, उपन्यास का शुभारंभ था। सबसे पहले बंगाल और फिर धीरे-धीरे अन्य भागों में भी यह विकास देखा गया।

लेकिन विद्यासगार के शकुंतला अनुवाद के साथ शिक्षित वर्ग की अंग्रेजी हुकूमत के अधीन अस्मिता पाने की अस्पष्ट इच्छाएं एक बार फिर ठोस रूप लेने लगीं। भाषा, शैली एवं अभीष्ट में बदलाव के अभिकर्ता के रूप में अनुवाद की भूमिका के दृष्टिकोण से विद्यासागर के शकुंतला ने एक गंभीर मामला खड़ा कर दिया - लक्ष्य भाषा अर्थात् बांग्ला अनुवाद में जानबूझ कर संस्कृत मुहावरों के कम प्रयोग का मामला। विद्यासागर ने राय की मुहिम को आगे बढ़ाया। बहुत जल्द अनुवाद में प्रयुक्त होने वाले मुहावरों एवं भाषा शैली पर विमर्श सभी भाषाओं का केन्द्र बिन्दु बन गया। 19वीं सदी के अंत से शुरू यह रुझान 20वीं सदी में भी जारी रहा। अंततः यह विमर्श सामाजिक-सांस्कृतिक अर्थ लेने लगा और अंग्रेजी शिक्षित वर्ग के उदय के साथ राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया के तहत भारतीय भाषाओं में गद्य में असंस्कृतकरण एवं गैरफारसीकरण का चलन बढ़ा। इस परिप्रेक्ष्य में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त वर्ग का वर्चस्व चौंकाने वाली बात न थी। इसे 19वीं सदी के अंत तक संस्कृत एवं फारसी शिक्षित वर्गों को प्राप्त सत्ता एवं सम्मान मिलने लगा। इस वर्ग ने भारतीय भाषाओं में स्थानीय तत्वों की वकालत की ताकि ये अधिक लोकोन्मुख हो सकें।

मोटे तौर पर यूरोप और विशेष कर इंग्लैंड में हम ने देखा कि राष्ट्र-निर्माण की चेतना अपने-आप अपनी अभिव्यक्ति की भाषा अपना लेती है। नव भारत के कर्णधारों - स्वामी विवेकानंद, तिलक, गांधी, नारायण गुरु, पेरियार, नेहरू और आजाद आदि सभी ने जन-जन को लिखित पाठ्य संदेश देने के लिए उनकी भाषा को चुना।

विवेकानंद एवं परवर्ती नेताओं ने प्राचीन भारत की पृष्ठभूमि से सुधारों और आंदोलनों को बढ़ावा देकर अपने विचारों के आदान-प्रदान के माध्यम को संस्कृत परम्परा के समांतर रखा जिसमें अनुवाद और संवाद की वकालत की गई क्योंकि इसका सम्बन्ध भारत के स्वर्णिम अतीत से था। यहां राष्ट्रीय आंदोलन के दो प्रमुख नेताओं - बाल गंगाधर तिलक और महात्मा गांधी द्वारा प्राचीन भारत की सबसे प्रभावशाली एवं सबसे अभिन्न पाठ्य सामग्रियों में से एक, भगवद्गीता की व्याख्या में प्रयुक्त भाषा - भाषिक व पाठ्य दोनों - और संदेश का संदर्भ देना समीचीन होगा। औपनिवेशिक बेड़ी से आजादी के राष्ट्रीय संघर्ष में गीता की इन व्याख्याओं को एक प्राचीन ग्रंथ की भावना को आम आदमी के लिए अनुवाद करने के माध्यम के रूप में देखा जा सकता है जिसका उद्देश्य उनके सामाजिक-सांस्कृतिक विचारों को एक-एक व्यक्ति तक पहुंचाना था। तिलक ने 'गीता रहस्य' में मराठी भाषी आम मराठी मानुष तक कृष्ण का अर्जुन को दिया संदेश पहुंचाया जिससे देश की आजादी के लिए हिंस्र संघर्ष में उनकी आस्था मुखर होती है। लेकिन गांधी ने मातृभाषा गुजराती में लिखी अपनी कृति में गीता के दर्शन को ज्ञान और

अज्ञानता के बीच हर मनुष्य के अंतर्मन में जारी द्वंद्व की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति स्वरूप देखा और मूलतः 'कर्म किए जा फल की चिंता मत करो इंसान' की बात पर जोर दिया। यह राष्ट्रीय आंदोलन में उनके अहिंसात्मक रवैये का प्रतीक था। हालांकि दोनों राजनीतिक धारणा को जन-जन तक पहुंचाने में सफल रहे और लोगों के लिए उनकी भाषा में प्राचीन ज्ञान के सच्चे और सरस व्याख्याता साबित हुए।

संपूर्ण 19वीं एवं 20वीं सदी की राष्ट्र-निर्माण प्रक्रिया में बांग्ला, मराठी, तमिल, कन्नड़, मलयालम, गुजराती, ओड़िया, हिन्दी, उर्दू, पंजाबी आदि में प्राकृतीकरण का रुझान दिखा और अलग-अलग परिप्रेक्ष्य में इनके अलग-अलग मायने दिखे - कुछ भाषायी समूहों ने तो साफ तौर पर इसे अपनी पहचान का केन्द्र बिन्दु बना लिया। तमिल में अनुवाद की प्रक्रिया ने गंभीर राजनीतिक रंग पकड़ लिया क्योंकि वहां संस्कृत न केवल संभ्रातों की, बल्कि उत्तर भारत/आर्यों के वर्चस्व की प्रतीक थी। मलयालम में संस्कृत एवं तमिल दोनों को विदेशी माना गया और आधुनिक मलयालम में देशज मलयालम के तत्वों को बढ़ावा देने के प्रयास किए गए। उत्तर में गैर-फारसीकरण एवं गैर-संस्कृतकरण की प्रक्रिया ने विकराल रूप ले लिया क्योंकि सांस्कृतिक एवं धार्मिक पहचानों ने साहित्यिक एवं भाषायी विमर्श को हिन्दी-उर्दू विवाद का रूप दे दिया जिसकी भारत के विभाजन में अहम् भूमिका रही। दक्षिण में भी अलगाव पैदा हुआ। वहां ब्राह्मणवादी सामाजिक संरचना की खिलाफत हुई और द्रविड़ भाषाओं, खास कर तमिल में संस्कृत के वर्चस्व को चुनौती मिली। हालांकि 'शुद्ध मलयालम' या पक्का मलयालम या फिर 'शुद्ध तमिल' या तनिल-तमिल इयक्कम आंदोलनों से यह अहसास हुआ कि भाषायी तौर पर उधार न लेने की जिद्द की अपनी सीमाएं हैं और इस वर्जना का अक्षरशः पालन करना अव्यावहारिक ही नहीं अवांछित भी है।

10.7 अंग्रेजी भाषा से विचारों, साहित्यिक प्रतिमानों एवं पाठों का भारतीय भाषाओं में अनुवाद : रूप और विषय-वस्तु के बीच अंतर्विरोध

देशज भाषाओं के प्रति आंदोलन एवं उन्हें सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान के माध्यम स्वरूप सही अर्थों में समझने हेतु अंग्रेजी पाठों से इन भाषाओं में अनुवाद की 'भूमिका' और योगदान को समझना होगा। भारतीय भाषाओं में अनुवाद द्वारा अंग्रेजी पाठ्यों के हस्तक्षेप से यूरोपीय सांस्कृतिक विमर्श के सबसे उत्तम ही नहीं, सबसे अधम तत्वों का भी आगमन हुआ। यह बात साहित्य ही नहीं जिज्ञासा के अन्य आयामों जैसे कि विज्ञान, वास्तुशास्त्र, दर्शन, इतिहास, जीवनी और आत्मकथा आदि सब जगह देखी गई। गौरतलब है कि इस प्रक्रिया की दिशा और दशा 'दुभाषियों के एक विशेष वर्ग' के हाथ थी जिसके माध्यम से मैकाले की मंशा पूरी हो रही थी। अंग्रेजी पाठों ने निस्संदेह विचारों एवं विज्ञानों के नए दरवाजे खोले और दयानंद सरस्वती जैसे सांस्कृतिक एवं धार्मिक सुधारकों की बात सामने रखी पर साथ ही, पाश्चात्य श्रेष्ठता के पाठ एवं धारणाएं भी भारतीय पाठकों के लिए अनूदित और संप्रेषित हुईं। इसलिए यह तनाव हमेशा और निरंतर बना रहा है कि अनुवाद के लिए कौन-से पाठ चुनें और उन्हें कैसे भारतीय भाषाओं में परावर्तित करें और यह भी कि स्थानीय तौर पर सफल उपयोग हेतु कैसे पाश्चात्य साहित्यिक प्रतिमानों का भारतीयकरण करें।

इस तथ्य की पुष्टि के लिए शेक्सपीयर के अनुवाद को लिया जा सकता है। 19वीं सदी के आरंभ में बाइबिल के विभिन्न भारतीय भाषाओं में अनुवाद के साथ 'द पिलग्रिम्स प्रॉग्रेस, गुलीवर्स ट्रैवल्स, एसप्स फेबल्स, रोबिंसन क्रूसो आदि अंग्रेजी कृतियों के भारतीय भाषाओं में अनुवाद हुए। 1850 के बाद शेक्सपीयर के अनुवाद के प्रयास होने लगे। पहला अनुवाद बांग्ला में 'द मर्चेंट ऑफ वेनिस' का हुआ जो 1853 में प्रकाश में आया। 'भानुमति चित्तविलास' नाम से यह कार्य हरण चंद्र घोष ने किया। 19वीं सदी के अंतिम दशक और 20वीं सदी के आरंभ में इसमें तेजी आई। मंचन और कक्षा में पठन-पाठन हेतु शेक्सपीयर के कई नाटक अनूदित हुए। लेकिन यह सब अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था लागू होने के बाद उपनिवेशवादी-उपनिवेश स्वरूप के गंभीर मानकों पर हुआ। भारतीय संवेदना और रूचि को दिशा देने के लिए इसने जो किया उसका प्रभावी सारांश शिशिर कुमार दास ने दिया है :

'शेक्सपीयर का फ्रेंच, और मोलिये के अंग्रेजी में अनुवाद दो भाषाओं पर अधिकार रखने वाले योग्य लोगों ने किए और शेक्सपीयर की फ्रांस, और मोलिये की इंग्लैंड में प्रतिष्ठा पूरी तरह इन अनुवादों पर निर्भर करती थी न कि मुट्ठी भर विद्वानों के हाथ थी जो उन्हें मूल भाषा में पढ़ सकते थे। इसके विपरीत भारत में शेक्सपीयर का अनुवाद

तब शुरू हुआ जब अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था भारत में कमोबेश जड़ें जमा चुकी थीं और अंग्रेजी जानने वालों की अच्छी तादाद पैदा हो गई थी और शेक्सपीयर संभ्रातों के पूज्य बन चुके थे।' (दास : 2001)

शेक्सपीयर अंग्रेजी साम्राज्य के शासकों के सबसे बड़े नाटककार हैं - भारतीय भाषाओं में शेक्सपीयर के अनुवाद के पीछे यह धारणा प्रबल रही और अनुवादक सामाजिक-सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के लिए भी शेक्सपीयर के नाटकों के विषय-वस्तु और प्रारूप का उपयोग करने लगे। नामी समाज सुधारक और तिलक के करीबी, गोपाल गणेश आगरकर (1856-1895) ने हैमलेट के मराठी अनुवाद 'विकार-विलासिता' (1883) की प्रस्तावना में लिखा कि अन्य संस्कृतियों के नाटकों को पढ़ने के मुख्य उद्देश्यों में एक अपने समाज की सीमाओं से अवगत होना है :

'बाल-विवाह और विधवा युवती के मुंडन के पक्षधर या पगड़ी के आकार या भोजन या पोशाक या फिर, क्या पति पत्नी को नाम से पुकारे, जैसे मुद्दों पर बहस करने और इन बातों पर मिथ्याभिमान रखने वालों को ऑथेलो या लीयर या रोमियो एण्ड जुलियट पढ़ने की जरूरत नहीं है।' (दास : 2001)

भारत की राजनीतिक आजादी से अधिक सामाजिक सुधार के मसले पर जोर देने की वजह से तिलक से मनमुटाव करने वाले श्री आगरकर का कथित अवलोकन एक ऐसे अनुवादक की भावना की अभिव्यक्ति है जो शेक्सपीयर के नाटक की व्याख्या भारतीय समाज में हाशिए के वर्गों की भावनाओं की अभिव्यक्ति के तौर पर करते हैं। अंतर्विरोध का एक अन्य कारण दुविधा है जो अनुवादकों के सामने शेक्सपीयर के मॉडल को लेकर रही, जिसमें हम वर्तमान के संस्कृत मंच के प्राचीन प्रतिमान के प्रति समर्थन और विरोध दोनों देखते हैं। कुछ अनुवादक शेक्सपीयर के प्रति उदार हुए और साथ ही अपने मौलिक शास्त्रीय प्रतिमानों में निरंतर अभिरुचि के साथ कालिदास का अनुवाद करते रहे।

अंग्रेजी से बारम्बार भारतीय भाषाओं में अनुवाद होने वाले अन्य रचनाकारों में मिल्टन, ड्राइडेन, शेली, वर्ड्सवर्थ, टेनीसन और बाद में 20वीं सदी में डब्ल्यू. बी. यीट्स एवं टी. एस. इलियट के नाम उल्लेखनीय हैं। हालांकि उपनिवेशवादी-उपनिवेश सम्बन्ध के सांचे में पाठ ही नहीं, साहित्यिक सिद्धांत या प्रतिमान भी शासक से शासित में अनूदित हुए और इनका बहुत दूरगामी प्रभाव रहा।

माइकल मधुसूदन दत्त (1824-1873) का बांग्ला महाकाव्य 'मेघनाद वध काव्य' साक्षात औपनिवेशिक प्रभाव में भारतीय भाषाओं में पाश्चात्य साहित्यिक प्रतिमान के प्रत्यारोपण की इस अवधारणा का अभिन्न भाग है। सालों पाश्चात्य दृष्टिकोण और जीवनशैली के निर्विवाद समर्थक रहे माइकल मधुसूदन दत्त ने 'मातृ-भाषा' वापस पाने के बाद यह कृति की। दत्त ने यह लिखते हुए अपनी मंशा स्पष्ट कर दी कि :

'मेरी आकांक्षा है कि हम अपने बूते ग्रीक मिथक की अद्भुत सौम्यताओं को आत्मसात् करें। आपको महाकाव्य के गैर-हिन्दू पात्रों की शिकायत नहीं करनी होगी। मैं ग्रीक कहानियों से उधार नहीं लूंगा बल्कि उस तरह लिखूंगा जैसे ग्रीक लिखते।' (दास : 2001)

पाश्चात्य साहित्यिक परम्पराओं और प्रतिमानों के प्रति लगाव ने भारत में उपन्यास लेखन को बढ़ावा दिया। बंकिम चंद चटर्जी ने उपन्यास की जिस विधा को लोकप्रिय बनाया उस परम्परा से और कई उपन्यासकार जुड़ते गए मसलन हरि नारायण आप्टे, चंदू मेनन, फकीर मोहन सेनापति, रवींद्रनाथ टैगोर, रजनीकांत बोर्दोलोई, भाई वीर सिंह, शरतचंद्र चट्टोपाध्याय, प्रेमचंद आदि। ये सभी चार्ल्स डिकेंस एवं जॉर्ज इलियट से लोकप्रिय हुई उपन्यास की विधा का अनुसरण करते रहे। उल्लेखनीय है कि बंकिम चंद चटर्जी ने पहला उपन्यास *राजमोहंस वाइफ* अंग्रेजी भाषा में लिखा था। अधिकांश उपन्यासकार मूलतः सर वाल्टर स्कॉट के ऐतिहासिक उपन्यासों से प्रेरित थे जो किसी प्रदेश एवं उसके लोगों के बीच के रोमांस का ताना-बाना होता। कालांतर में उपन्यासकारों ने सामाजिक यथार्थ एवं राजनीति पर उपन्यास लेखन किया। हालांकि पाश्चात्य प्रतिमान के बावजूद भारतीय भाषाओं के उपन्यासकार राष्ट्रवाद की बलवती भावना का संज्ञान लेने लगे, उसकी व्याख्या एवं अभिव्यक्ति करने लगे विशेष कर महात्मा गांधी के उदय के बाद। गांधी की भूमिका महामानव की हो गई। उन्हें औपनिवेशिक शासन के 'मेटा-नैरेटिव' की काट माना जाने लगा। वे जन नायक बन गए और कई बार प्रतीक बन कर उभरे जैसा कि प्रेमचंद की कई गल्प कृतियों में है। हालांकि 20वीं सदी में विभिन्न भारतीय भाषाओं में 'आधुनिक' काव्य पर टी एस इलियट का साहित्यिक प्रतिमानों की नकल से बढ़ कर प्रभाव हुआ। भावनात्मक शून्यता एवं बोरियत एवं

कटाक्षपूर्ण नैराश्य - प्रथम विश्व युद्ध के बाद टी एस इलियट की कविताओं में अभिव्यक्त इन तमाम भावनाओं को भी भारत के कवियों ने हू-ब-हू उतार दिया। साहित्यक आलोचना की विधा भी आधुनिक अंग्रेजी/पाश्चात्य आलोचना परम्परा के अनुरूप ढाली जाने लगी।

एक रोचक तथ्य यह भी कि केवल गंभीर गल्प या कविता ही नहीं बल्कि साहित्य की लोकप्रिय विधाओं जैसे कि जासूसी उपन्यास और रहस्य-रोमांच की कृतियों ने भी पाश्चात्य शैली में सटीक बैठने का प्रयास किया और पाश्चात्य मॉडलों को यहां प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। आर्थर कॉनन डॉयल और विल्की कॉलिंस आदि उनके मॉडल बने। तमिल उपन्यासकार जे आर रंगराजू (1875-1956) का जासूस गोविंदन 'शर्लाक होम्स का तमिल अवतार' था। राष्ट्रवाद के उदय के बाद ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में भी यह देखा गया। त्रावणकोर के महाराज अयिलयम तिरुनाल (1861-75) ने मलयाली पाठकों हेतु पुस्तकें प्रकाशित करने के लिए एक टेक्स्ट बुक कमेटी बनाई। लब्ध प्रतिष्ठ कवि और विद्वान केरला वर्मा इसके अध्यक्ष थे।

वस्तुतः 19वीं सदी में भारत में अंग्रेजी शिक्षा के सूत्रपात की औपनिवेशिक मंशा के मद्देनजर किए गए भारतीय प्रयास न तो वैज्ञानिक और न ही ऐतिहासिक मानकों पर आधारित थे। हालांकि इसके प्रतिपक्षी भी शासकों के समक्ष विकल्प रखने में नाकाम रहे। विपिन चंद्रा ने इसका सटीक विवरण दिया है :

'यह दुःखद है कि इस मसले पर भारी असमंजस था। बहुत-से लोग यह फर्क नहीं कर पाए कि पढ़ाई के माध्यम के रूप में अंग्रेजी एक बात है, विषय के रूप में अंग्रेजी दूसरी बात। यही सवाल एक माध्यम के रूप में भारतीय भाषाओं और अध्ययन की मुख्य उद्देश्य के रूप में पारंपरिक भारतीय ज्ञान को लेकर था।' (चंद्रा : 1986)

हमने देखा कि संपूर्ण 19 वीं सदी में सबसे सुधी जनों ने भी आधुनिक और वैज्ञानिक ज्ञान के नाम पर अंग्रेजी शिक्षा की वकालत की। इससे जो चाहिए था और जो कहा जा रहा था, उसके बीच एक खाई बन गई। आप कह सकते हैं कि बदलते परिदृश्य के कुशाग्रबुद्धि व्याख्याता जैसे कि राजा राममोहन राय लक्षित पाठकों और अपने औपनिवेशक स्वामियों के लिए यह सब अनुवाद कर पाते बशर्ते वे 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में होते।

10.8 भारतीय भाषाओं के बीच अनुवाद और भारतीय अंग्रेजी के साथ परस्पर सम्बन्ध : नया अनुक्रम और बोलियों का उदय

एडवर्ड पी. राइस, जिनकी रचना 'ए हिस्ट्री ऑफ कन्नड़ लिटरेचर' पहली बार 1921 में प्रकाशित हुई, उन्होंने कन्नड़ के तत्कालीन अनुवाद कार्यों का तथ्यपरक अवलोकन किया जिससे उन दिनों के रुझान के बारे में दिलचस्प बातें सामने आती हैं :

'उपन्यास उत्तरोत्तर लोकप्रिय हो रहा है। अब तक प्रकाशित अधिकांश उपन्यास अंग्रेजी या बांग्ला की पुनः प्रस्तुतियां हैं जैसे भारत विलास (कॉमेडी ऑफ एरर्स) और फिर सर कॉनन डायल की जासूसी कहानियां। बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय और सुरेंद्र नाथ की बांग्ला रचनाओं की भी पुनः प्रस्तुतियां हुईं। मुख्यतः श्री बी. वेंकटाचार्य ने ये कार्य किए जो एक सेवानिवृत्त मुंसिफ थे। इनमें सबसे सम्मानित हैं - दुर्गेशनंदिनी और देवीचौधरानी।' (राइस : 1982)

ऊपर के अनुच्छेद में एक बात जो हम पहली बार देखते हैं वह बांग्ला पुस्तकों का कन्नड़ में अनुवाद है। राष्ट्र-निर्माण में इस अभिरुचि ने एकीकरण का काम किया। शिक्षित भारतीयों के लिए अपनी जमीन और भाषाओं और संस्कृति को बेहतर जानने का यह एक नया चरण था। साथ ही, बदलते भारतीय परिदृश्य में सत्ता एवं संस्कृति के नए सम्मिश्रण की बात सामने आई। बंगाल औपनिवेशिक प्रयोग के केन्द्र होने की वजह से पहले आगे आया। यह तथ्य बांग्ला से ओड़िया, हिन्दी, मराठी, कन्नड़ आदि भारतीय भाषाओं में होने वाली अनूदित पुस्तकों से सामने आता है। इस सिलसिले में अनुवाद के लिए पहले बंकिम चंद्र के उपन्यास और बाद में टैगोर की रचनाएं सबसे लोकप्रिय रहीं। भारतीय भाषाओं का परस्पर सम्पर्क में आना एक बड़ा बदलाव था और देश के विभिन्न भागों में स्थापित संस्कृतियों और प्रचलित रिवाजों को समझने का माध्यम बना। वस्तुतः कन्नड़ ने तो खास मानक दे दिया। बी. वेंकचलम ने बंकिम चंद की सभी रचनाओं का कन्नड़ अनुवाद किया और बहुत-से लोग यह मान बैठे कि ये वेंकटचलम की मूल रचनाएं हैं। 20वीं सदी में मराठी और हिन्दी से अन्य भाषाओं में अनुवाद बढ़ा।

20वीं सदी में एक अहम् बदलाव आया - अंग्रेजी भाषा का सांस्थानीकरण हो गया। इसकी वजह केवल यह नहीं थी कि अंग्रेजी की परम्परा संपन्न रही थी बल्कि यह भी कि अंग्रेजी भारतीय संदर्भ में ही नहीं अपितु अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य में भी अंतरसांस्कृतिक संवाद की भाषा बन गई। टैगोर को उनकी कृति गीतांजलि के अंग्रेजी अनुवाद पर 1913 में नोबल पुरस्कार मिला। पहले एशियाई को मिले इस पुरस्कार से एक नया रुझान देखा गया। इससे देश-विदेश में पहचान बनाने में भारतीय रचनाओं के अंग्रेजी अनुवाद की अहमियत का पता चला और अंग्रेजी को मध्यस्थ बना कर भारतीय भाषाओं के बीच परस्पर अनुवाद को भी बढ़ावा मिला। हालांकि अंग्रेजी पाठ के भारतीय भाषाओं में अनुवाद और भारतीय भाषाओं के अंग्रेजी में अनुवाद को भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक एवं साहित्यक विमर्श की धुरी मात्र के रूप में ही देखा जा सकता है। 'वंचित वर्ग', महिलाओं, दलितों, जनजातीय समुदायों की ओर से भी प्रति-रचनाएं हुईं। इन मामलों में अंग्रेजी का लाभ लेकर राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तरों पर अपना नजरिया रखने की अभिरुचि दिखी। वस्तुतः कई बार तो इन्होंने विमर्श का मुद्दा ही बदल दिया। राष्ट्रवाद और उत्तर-उपनिवेशवाद के लिए यह उपलब्धि थी कि अंग्रेजी भाषा में भाषायी या वैचारिक स्तरों पर बदलाव आने लगे। भारतीयता ने इसके व्याकरण समेत शब्दों और मुहावरों की नई परिभाषा शुरू कर दी। यह बात भारत से होने वाले और भारत पर होने वाले विमर्शों में बहुत मुखर हुई।

इस संदर्भ में उपनिवेशवादी की भाषा के प्रति उपनिवेश के दोहरेपन की प्रवृत्ति के बारे में रेने जहर की टिप्पणी बहुत समीचीन है :

'औपनिवेशिक ताकतों की भाषा के प्रति उपनिवेश का दोहरा सम्बन्ध रहा है। वह सामाजिक उत्थान के लिए चाहता और पूजता है पर साथ ही, इसे औपनिवेशिक शासन के हाथ का हथियार मान इससे घृणा करता है और इससे भयाक्रांत है।' (ज़हर : 1974)

वस्तुतः राष्ट्रवाद की निर्विवाद जीत के तौर पर हम देखते हैं कि यद्यपि कई राष्ट्रीय नेता जैसे कि जवाहरलाल नेहरू की अधिकांश लिखित और मौखिक अभिव्यक्ति अंग्रेजी में है। उनकी इस सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनीतिक भाषा में हमें राष्ट्रवादी और साम्राज्यवाद विरोधी संदेश सुनाई देते हैं। नेहरू की कृति 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' और उनका ऐतिहासिक संबोधन 'ट्राइस्ट विद डेस्टिनी' अंग्रेजी में अभिव्यक्त हैं और पाठ के स्तर पर कोई अनुवाद नहीं किया गया है पर हम यह निस्संदेह जानते हैं कि नेहरू समकालीन पीढ़ी के लिए भारत के लंबे इतिहास और विरासत की व्याख्या कर रहे हैं और उनके लिए यह अनुवाद करने की कोशिश कर रहे हैं कि औपनिवेशिक भारत की कोख से उदीयमान भारत की पृष्ठभूमि और परिदृश्य में खड़ा होना क्या मायने रखता है।

भारतीय-अंग्रेजी के इस नए वर्ग ने इसे 18वीं एवं 19वीं सदी, जब फारसी और एक सीमा तक संस्कृत का सत्ता और साहित्य विमर्श पर दबदबा था, उस समय के भाषा परिदृश्य से जोड़ दिया। हाल के कुछ वर्षों में भारतीय अंग्रेजी लेखकों को अतंर्राष्ट्रीय मंचों पर मिलने वाली पहचान और सफलता से एक नया विमर्श यह शुरू हो गया है कि भारतीय परिदृश्य का असली प्रतिनिधि कौन है - भारतीय भाषाओं में लिखा साहित्य या भारतीय अंग्रेजी में लिखा साहित्य। 'भारत एक सभ्यता' की परिकल्पना से लेकर 'भारत के एक राष्ट्र के रूप में उदय' तक भाषायी, सामाजिक और सांस्कृतिक उथलपुथल पर विचार करते हुए यह मुमकिन है कि यह विमर्श अंततः किसी रचना के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक भाषा के आधार पर निर्णीत होगा न कि उसकी फिलोलॉजिकल भाषा के आधार पर। इसलिए अनुवादकों को अधिक परिष्कृत और मुखर व्याख्याता की भूमिका में आना होगा। इस संदर्भ में आधुनिक भारतीय लेखकों और अनुवादकों ने जिस तरह निरंतर व्याख्याता की प्रकृति का परिचय दिया, जैसा कि औपनिवेशिक प्रभाव के बाद दिखता है, उसके बारे में हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक निर्मल वर्मा का समकालीन भारतीय दार्शनिक जे. एल. मेहता को उद्धृत करना बहुत समीचीन है और इस उद्धरण के साथ हम वर्तमान परिदृश्य में निरंतर चलने वाले इस विमर्श को विराम दे सकते हैं :

'पूर्व में हमारे सामने यूरोपीयकरण के सिवाय अन्य कोई द्वार नहीं खुला है। विदेश और अनजान प्रदेश की यह समुद्र यात्रा एकमात्र साधन है हमारी खोई अस्मिता वापस पाने का। इसलिए यहां, और अन्यत्र भी, सबसे अंतरंग कार्य करने का रास्ता अतीत से शुरू होता है।' (वर्मा : 1993)

10.9 सारांश

प्रस्तुत इकाई में हमने जाना कि भारत के संदर्भ में राष्ट्र का क्या महत्व है। भारत जैसे बहुभाषिक-बहुसांस्कृतिक देश के राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया किस प्रकार यूरोपीय देशों की राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया से भिन्न है। हमने यह भी पढ़ा कि भारत के राष्ट्र-निर्माण में कौन-कौन से कारकों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारत जैसे बहुविध देश में अनुवाद एक भाषिक-सांस्कृतिक सेतु की भूमिका निभाता है। राष्ट्र-निर्माण में अनुवाद की भूमिका वास्तव में महत्वपूर्ण थी जिसने भारतीयों में एक राष्ट्र, एक पहचान की भावना को आकार दिया। अनुवाद की इस प्रक्रिया में कई स्तरों पर अनुवाद हुए - विदेशी भाषाओं से भारतीय भाषाओं में, भारतीय भाषाओं से विदेशी भाषाओं ने तथा भारतीय भाषाओं में परस्पर अनुवाद जिनकी सहायता से एक मुकम्मल भारत की तस्वीर उभर कर सामने आ पाई।

10.10 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. राष्ट्रवाद से क्या अभिप्राय है? भारत में राष्ट्रवाद के विकास के कारकों की व्याख्या कीजिए।
2. भारत में राष्ट्रवाद के विकास में अनुवाद के योगदान की व्याख्या कीजिए।
3. दक्षिण भारत में मिशनरियों की स्थापना एवं अनुवाद में उनके योगदान की व्याख्या कीजिए।
4. ब्रिटिश राज के अभिगम में एशियाटिक सोसायटी के योगदान की व्याख्या कीजिए।
5. व्याख्याकर्ता कौन कहलाते थे? औपनिवेशिक काल में इनके महत्त्व पर प्रकाश डालिए।
6. संस्कृत एवं फारसी से अंग्रेजी तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं में अनुवाद के महत्त्व की व्याख्या कीजिए।
7. 'भारत' में राष्ट्रीयता की भावना के उद्भव में अंग्रेजी पाठों एवं उनके अनुवादों के महत्त्व को रेखांकित कीजिए।
8. राष्ट्रीयता की भावना के विकास में भारतीय भाषाओं के मध्य अनुवाद के प्रभाव की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।

10.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- Das, Sisir Kumar, 2001: *Indian Ode to the West Wind*, 'Goethe and India: Towards a World Literature', New Delhi, Pencraft International.
- Desai, A.R., 1982: *Social Background of Indian Nationalism,* Bombay, Popular Prakashan, First Edition 1984.
- Chandra, Bipin, (ed.) Reprint in 1986: *Modern India,* New Delhi, National Council of Educational Research and Training, First Published in 1971.
- Wintermitz, Maurice, First published in 1904: *History of Indian Literature (Vol.1),* (A new authoritative translation from original German by V. Srinivasa Sarma), Motilal Banarsidas, 1981, Delhi, 'Introduction'.
- Haldar, Gopal, 2000: *Languages of India* (Translated into English from the Original Bangla by Tista Bagchi), India, New Delhi, National Book Trust.
- Kesavan, B S, First Edition 1985: History of Printing and Publishing in India: *A Story of Cultural Awakening* (Vol. 1), India, National Book Trust.
- Cohn, Bernard S., 1985: 'The Command of Language and the Language of Command', *Subaltern Studies IV: Writings on South Asian History and Society* (ed.) Ranajit Guha, New Delhi, Oxford University Press.

- Sankhdher, B. M, 1990: *India and the World Literature,*' British Poetical Literature on India 1780-1835', New Delhi, Indian Council for Cultural Relations.
- Chatterjee, Partha, 1985: 'Gandhi and the Critique of Civil Society', *Subaltern Studies III: Writings on South Asian History and Society* (ed.) Ranajit Guha, New Delhi, Oxford University Press.
- Das, Sisir Kumar,2001: *Indian Ode to the West Wind*, 'India, Halhed and the Early British Orientalism', New Delhi, Pencraft International.
- Sadiq, Muhammad, 1984: *A History of Urdu Literature*, Oxford University Press, Delhi.
- Sadani, Jaikishandas, 1990: *India and the World Literature,* 'Indian Images in English Poetry', New Delhi, Indian Council for Cultural Relations.
- Das, Sisir Kumar, 1991: *A History of Indian Literature* (Vol. VIII): *1800-1910 Western Impact: Indian Response,* 'The Old Order: Stability and Change', New Delhi, Sahitya Akademi.
- Sisir Kumar Das: *Indian Ode to the West Wind*, 'Shakespeare's Translations in Indian Languages', op. cit.
- Das, Sisir Kumar, 1995: *A History of Indian Literature* (Vol. IX): 1911-1956: Struggle for Freedom: Triumph and Tragedy.
- Rice, Edward P., 1982: *A History of Kannada Literature*, (Second Ed. Rev & Enlarged), New Delhi, Asian Educational Services, New Delhi, (First Published 1921).
- Zahar, Renate, First published in India 2010: *Frantz Fanon: Colonialism and Alienation,* 'Man's Alienation in Colonialism', (Translated by Willfried F. Feuser), Delhi, Aakar Books (Published in Agreement with Monthly Review Press, New York).
- Verma, Nirmal, 1993: 'India and Europe', *Yatra: One*: *Writings from the Indian Sub-Continent*, General Editor: Alok Bhalla. (Eds.) Nirmal Verma and U R Ananthamurthy, New Delhi, An Imprint of Harper Collins Pvt. Ltd.